खतरा : स्कूल !

रूपांतरणः विनोद रायना

खतरा : स्कूल ! : *Danger : School !*

रूपांतरण : विनोद रायना

जनवाचन बाल पुस्तकमाला के तहत भारत ज्ञान विज्ञान समिति द्वारा प्रकाशित

© भारत ज्ञान विज्ञान समिति

संपादन : अरविन्द गुप्ता
ग्राफिक्स : अभय कुमार झा

प्रकाशन वर्ष: 1999, 2003, 2005, 2006

मूल्य: 50 रुपए

Published by Bharat Gyan Vigyan Samiti,
Basement of Y.W.A. Hostel No. II, G-Block
Saket , New Delhi - 110017
Phone : 011 - 26569943
Fax : 91 - 011 - 26569773
email: bgvs@vsnl.net

∞ क्या कॉन्वेंट और नवोदय स्कूलों के फैलने से शिक्षा का स्तर सुधर जाएगा?

∞ क्या स्कूल को समाज की अन्य व्यवस्थाओं से काट कर देखा जा सकता है?

∞ गरीब मेहनतकशों के बच्चे अच्छी शिक्षा कब और कैसे पा सकेंगे?

∞ क्या वर्तमान स्कूली शिक्षा सामाजिक बदलाव का साधन बन सकती है?

खतरा : स्कूल !

रूपांतरण: विनोद रायना

इंसटीट्यूट फॉर कल्चर एक्शन (*आईडेक*), जेनेवा द्वारा प्रकाशित
यथास्थितिवादी शिक्षा तंत्र की परतें खोलती
बहुचर्चित पुस्तक डेंजर: स्कूल का हिंदी रूपांतरण

'खतरा : स्कूल' का सफ़र

बात 1974 के आसपास की है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम ने मुझ जैसे कई लोगों को एक-दूसरे का साथी बना दिया था। हम में से कोई भी शिक्षाविद् या शिक्षा की डिग्री हासिल किए हुआ नहीं था। लेकिन ग्रामीण परिवेश की स्कूली व्यवस्था, राज्य सरकार की भूमिका व समाज के विभिन्न मसलों ने हम सबको यह समझ दी थी कि ***होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम*** महज़ विज्ञान तक सीमित नहीं हो सकता है, या यूं कहें कि विज्ञान की परिभाषा में समाजिक प्रक्रिया जोड़ना ज़रूरी बन गया था। यह अनुभव का ऐसा सबक था जो कोई भी पुस्तक मुश्किल से ही दे पाती।

इसी दौरान साथी अरविन्द गुप्ता, जो उस समय आई आई टी कानपुर से होशंगाबाद आते थे, ने बनखेड़ी स्थित ***किशोर भारती*** संस्था के पुस्तकालय में **डेंजर : स्कूल** नाम की पुस्तिका को पाया। एक-एक करके सबने इसे पढ़ा, और सबको यही महसूस हुआ कि जिनेवा में रची यह पुस्तक मानो होशंगाबाद जिले के अनुभवों पर ही आधारित हो - हम में से कोई भी उस समय ***आईडेक*** नाम की संस्था को नहीं जानता था - मैं तो आज भी नहीं जानता हूं। सब से मज़ेदार थी पुस्तक की प्रस्तुति - चित्र, कार्टून व व्यंगात्मक भाषा से एक बहुत ही जटिल व राजनीति से लैस विषय को ऐसा प्रस्तुत करना जो शिक्षा से जुड़े हर व्यक्ति के अनुभव से - एक सहज तरीके से जुड़ता हो। शिक्षा व राजनीति, खासकर एक वर्ग विश्लेषण की इस सुंदर प्रस्तुति ने हम में से बहुत लोगों का मन जीत लिया।

और जैसा होता है, सबकी इच्छा हुई कि एक प्रति अपने पास रखें, शिक्षकों में बांटे वगैरा-वगैरा। यह वह ज़माना था जब फोटोकापी इतनी आम नहीं हो पायी थी। बस पुस्तकालय की एक प्रति से ही काम चलाया जा रहा था। अरविन्द ने हार नहीं मानी, कई वर्ष बाद ***आईडेक*** से सम्पर्क करके व मंज़ूरी लेकर उसी पुस्तकालय की प्रति से पुणे में सुजीत पटवर्धन की मदद से हज़ार भर प्रतियां छपवा दीं। इसी बीच एकलव्य ने ***विज्ञान क्या है*** नाम की एक प्रदर्शनी में किताब के कुछ अंशों के पोस्टर बनवाये।

लेकिन भाषा फिर भी एक समस्या रही। अंग्रेजी में लिखी गई यह पुस्तक हम उस समय मध्यप्रदेश जैसे राज्य में बहुत अधिक नहीं फैला पाए। मौका मिला ***चकमक*** बाल पत्रिका से। हालांकि बहुत लोगों ने कहा कि यह पुस्तक एक बाल पत्रिका के लायक नहीं है, फिर भी हमने तय किया कि इसे ***चकमक*** में किस्तों के रूप में छापा जाये। इससे यह सुविधा मिली की सीधा अनुवाद न कर इसमें भारत का संदर्भ जोड़ कर रूपांतरण किया जा सका। यह काम ***चकमक*** में छपे 13 किस्तों से पूरा हुआ और पहली बार हिंदी भाषी लोगों के सामने पूर्ण रूप से आया। इन किस्तों को तैयार करने में ***चकमक*** टीम, खासकर राजेश उत्साही व जया विवेक का सराहनीय योगदान रहा।

विचार फैल गया। कई वर्षों से बहुत मेहनत से ***समकालीन दस्तावेज़*** निकालने वाले लखनऊ के प्रशांत कुमार ने ***चकमक*** के अंक पढ़े और इच्छा ज़ाहिर की कि किस्तों को इकट्ठा कर वह इस से ***समकालीन दस्तावेज़*** का एक अंक निकालना चाहते हैं, और 1991 में हिंदी में पहली बार पुस्तिका के रूप में ***डेंजर: स्कूल*** हिंदी में छप कर आया।

अंग्रेजी की प्रतियां अब तक खत्म हो गई थी, तो गोवा स्थित ***अदर इंडिया प्रेस*** के क्लाड व नारमा अलवारिज़ ने हमको लिखा कि क्या वह हिंदी रूपांतरित प्रति को वापस अंग्रेजी में कर के छाप सकते हैं? ना का तो कोई मतलब ही नहीं था, तो ऐसा अंग्रेजी का अंक भी उन्होंने निकाला। इस बीच हिंदी की प्रतियां कई वर्षों से खत्म हो गई हैं तो ***भारत ज्ञान विज्ञान समिति*** के साथी के के कृष्णकुमार व अभय कुमार झा का सुझाव था कि ***बीजीवीएस*** के जनवाचन आंदोलन, जिसमें मैं और अरविन्द गुप्ता भी जुड़े हैं, के तहत एक हिंदी संस्करण फिर निकाला जाए। मेरा सुझाव था कि थोड़ा कवर को भी बदलें - अपने देश की स्कूली शिक्षा में केवल वर्ग से ही नहीं बल्कि लिंग से भी बच्चों को छटनी होती है।

तो यह संस्करण इस सफ़र की आज की कड़ी है। यह सफ़र वर्तमान पूंजीवादी माहौल, जिसमें ***इंट्लेक्चुअल पेटेंट रिजीम*** के अंतर्गत कापीराईट से मुनाफ़ा कमाना एक नई राजनीति बना रहा है, एक तमाचा है। इतने साथियों की पहल वह ***आईडेक*** जैसी संस्था का दर्शन **आई पी आर** व वर्तमान बाज़ारी पूंजीवाद का ऐसा विरोध है जो ज़ोरदार लेखों व भाषणों से कहीं ज़्यादा असरदार है, ऐसा मैं मानता हूं।

— विनोद रायना

शुभ मुहूर्त देखकर एक दिन बैंड-बाजे के साथ...

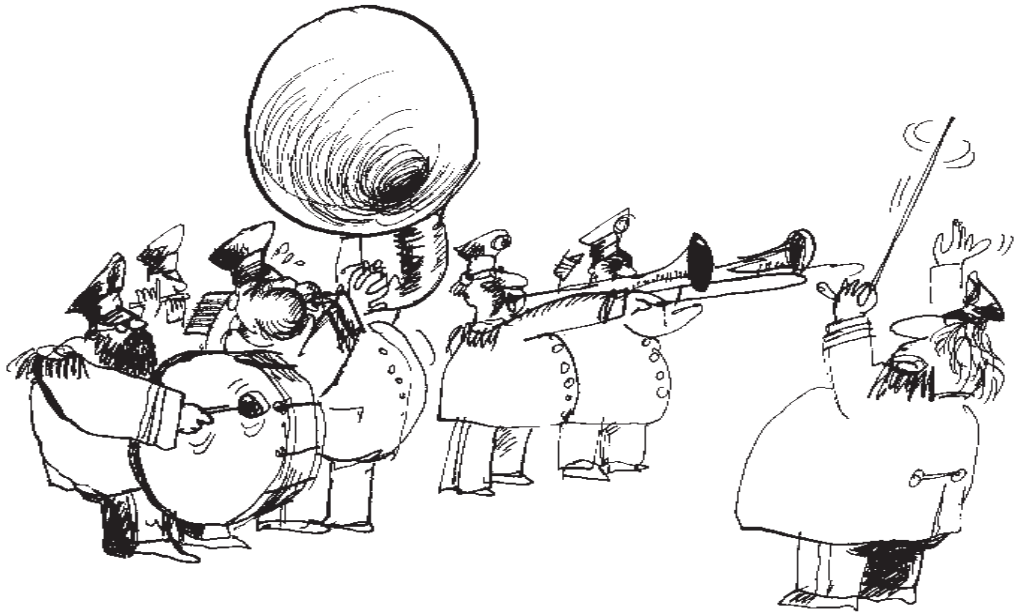

मंत्रीजी और अधिकारियों
की उपस्थिति में

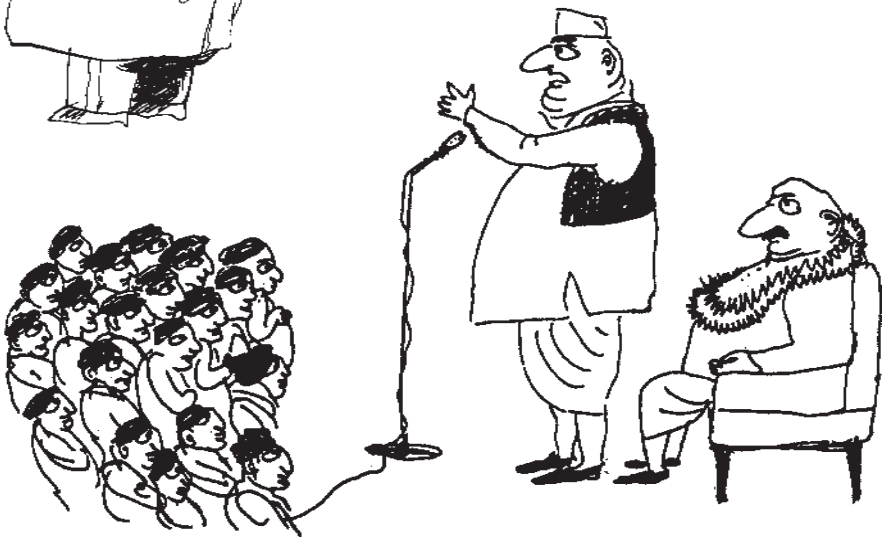

किसी बड़े कस्बे में एक 'नवोदय' स्कूल

(गांव में तो शायद 21वीं शताब्दी
में भी ऐसा स्कूल नहीं दिखेगा)

का उद्घाटन होता है...

चारों ओर खुशी फैल जाती है।

.... लेकिन फिर भी

कुछ छात्र बोर हो रहे हैं।

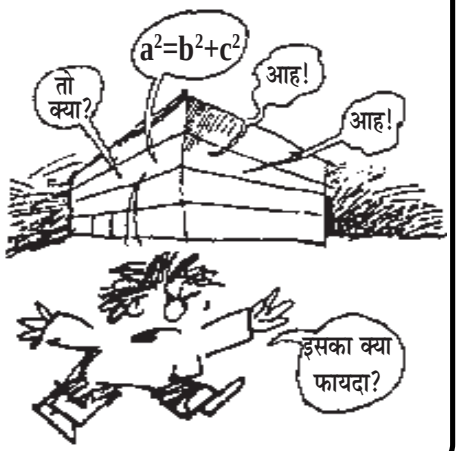

परेशानी भी है...

मुझ से अधिक अंक लाने वाला मेरे आगे बढ़ने की संभावनाओं में बाधा है। इसलिए जब दूसरों को खराब अंक मिलते हैं तो में खुश हो जाता हूं...!

कुछ बेचैनी सी महसूस होती है...

....कुछ छात्र
इतने अधिक
परेशान
होते हैं
कि बीमार
पड़ जाते हैं।

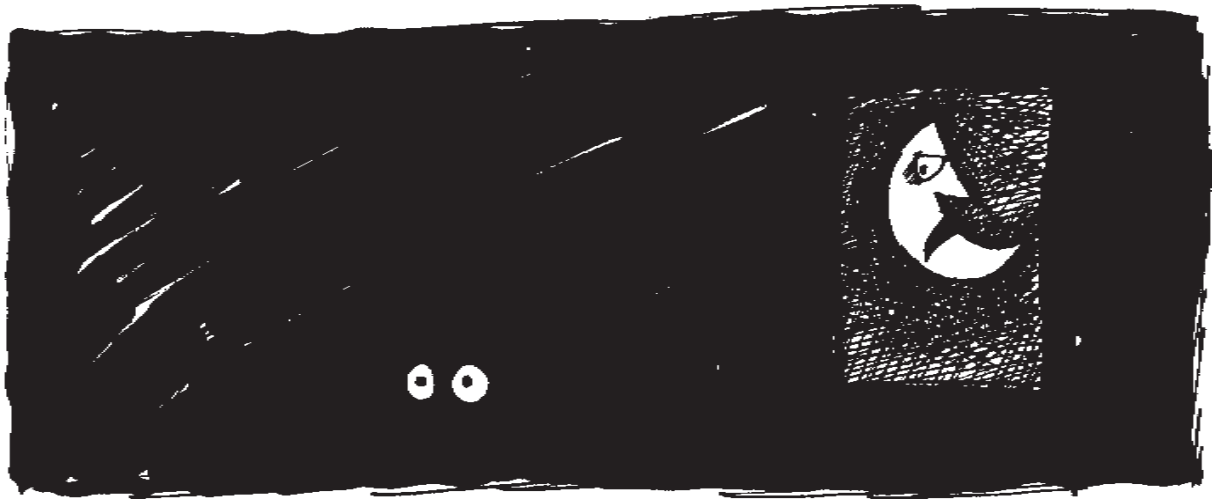

'' स्कूल में पहले ही दिन शिक्षक ने कहा कि हम में से एक-तिहाई परीक्षा में फेल हो जाएंगे। उन्होंने कहा कि आंकड़ों से यह सिद्ध हो चुका है।''

स्कूल स्वयं एक ऐसी संस्था है जो मनोवैज्ञानिक दबाव से परेशान हो जाने वाले छात्रों को बीमार कर देती है। लिखित और मौखिक परीक्षाएं, शिक्षकों द्वारा अनुशासन में रहने की धमकी, स्वच्छ हवा और शारीरिक अभ्यास का अभाव, मां-बाप की अपेक्षाएं, कुछ छात्रों में अधिक अंक लाने की चिंता और ऊपर से नौकरी का सवाल आदि से जो मानसिक तनाव पड़ता है, उससे छात्र अंत में हमेशा 'चिंताग्रस्त' रहने की बीमारी के शिकार हो जाते हैं। इस बीमारी का असर शरीर के अंदरूनी अंगों पर भी पड़ता है। फलस्वरूप सिरदर्द, हाज़में में गड़बड़, दिल धड़कने की गति बढ़ना व चर्म रोग जैसी तमाम बीमारियां छात्रों को जकड़ लेती हैं। पर स्कूलों में गर्मी या दशहरा - दीवाली की छुट्टियां होते ही ये बीमारियां उड़न-छू हो जाती हैं।

... और अधिकांश छात्र तो स्कूल से भाग जाना चाहते हैं...
और भाग भी जाते हैं...

अभिभावकों की परेशानी

''योजनाएं और कार्यक्रम ... सभी तो संपन्न वर्ग के लोगों द्वारा बनाए हुए हैं.....!''

''मैं कहती हूं कि प्रकृति के विरुद्ध काम नहीं हो सकता।
मैंने माना कि मेरी बेटी बहुत बोलती है,
पर अगर उसे चुप करा के
रात-दिन भी काम कराया जाए
तो भी वह सफल नहीं हो पाएगी।
किसी को दबा के काम
नहीं करवाया जा सकता।''

बच्चों का परीक्षाफल खराब होने का डर
अभिभावकों को हमेशा खाए जाता है।
उन्हें यही ग्लानि रहती है कि शायद वे
बच्चों के प्रति ठीक से ध्यान नहीं दे पा रहे हैं।

... शिक्षकों में बेचैनी

कई संतुष्ट हैं...

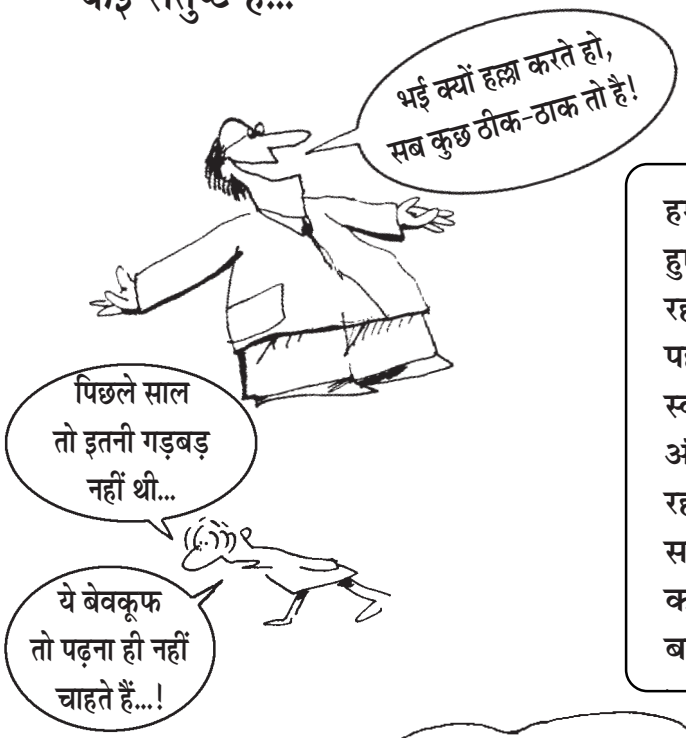

लेकिन कई चिंतित हैं

हम लोग टूटे-फूटे भवनों में, कक्षाओं में दीवारों से घिरे हुए हैं, जबकि इन दीवारों के बाहर समाज तेज़ी से बदल रहा है। हम उन्हीं ढर्रों पर चल रहे हैं जो शायद सदियों पहले समाज के लिए उपयुक्त रहे हों। जब तक शिक्षा का स्वरूप समाज की ज़रूरत के हिसाब से तय नहीं होगा और उस गति से नहीं बदलेगा जिस गति से समाज बदल रहा है तो इस शिक्षा से किसका फ़ायदा? केवल दो-चार साहब ही तो बनेंगे न! याद रहे जब हम समाज की बात कर रहे हैं तो हमारा मतलब संपन्नों के समाज से नहीं बल्कि मेहनतकशों के समाज से है!

कई यह महसूस करते हैं कि दोषी वही हैं...

हैरान हैं

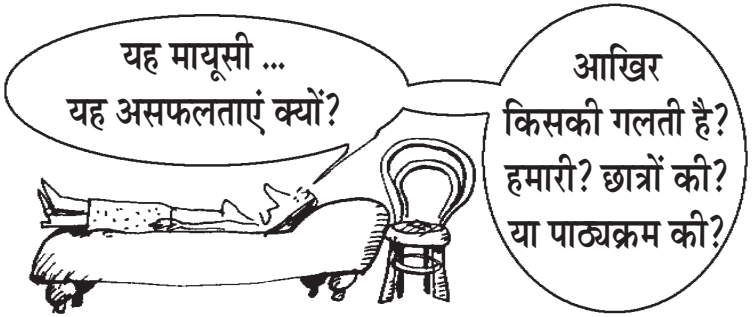

चिल्लाते हैं...

जो लोग बदलाव
लाने की कोशिश करते हैं,
उन्हें चारों तरफ से विरोध
व अड़ंगों का सामना करना पड़ता है...

कई लोगों से यह सब
बर्दाश्त नहीं होता...

विरोध... साथियों से
या प्रशासन से
या फिर अभिभावकों से....

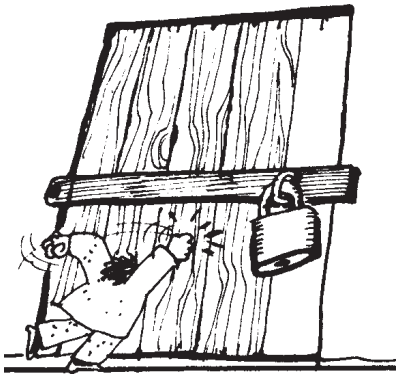

अधिकतर स्कूल से अलग हो जाते हैं...

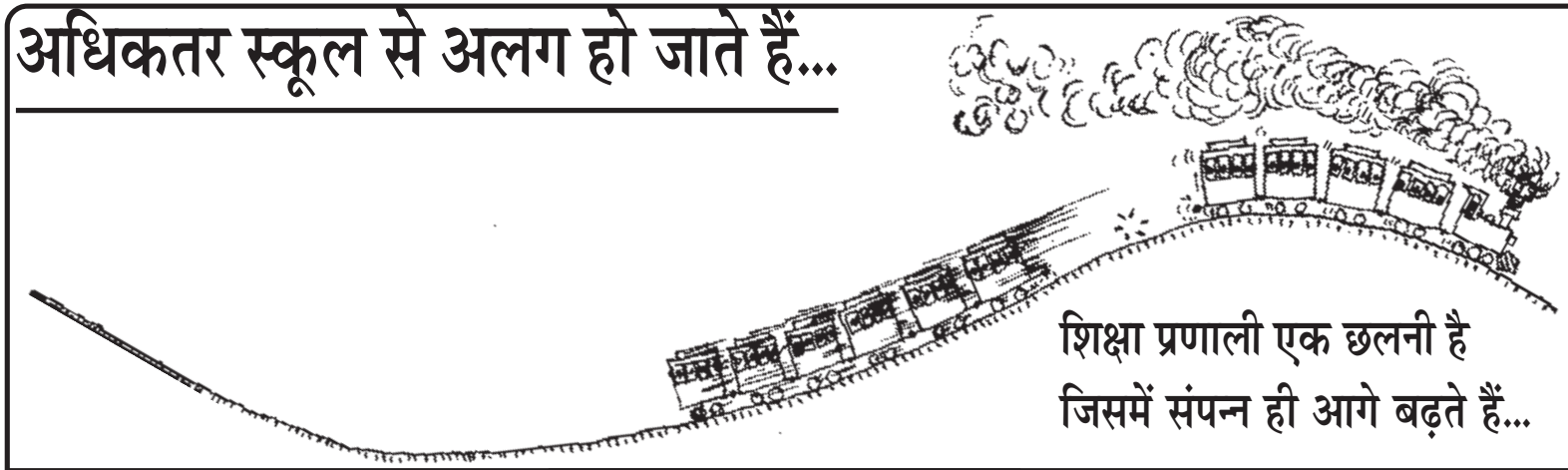

शिक्षा प्रणाली एक छलनी है
जिसमें संपन्न ही आगे बढ़ते हैं...

भारत के हर 100 बच्चों में से

40-50 स्कूल ही
नहीं जा पाते।

50-60 प्राथमिक
शालाओं में दाखिल होते हैं।
इनमें से 30-40 स्कूल
छोड़ देते हैं।

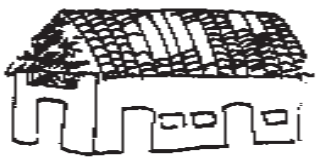

20-25 माध्यमिक शालाओं
में जाते हैं।
इनमें से 10-15 स्कूल छोड़
देते हैं।

5-10 उच्चतर माध्यामिक
शालाओं में जाते हैं।
इनमें 4-6 स्कूल
छोड़ देते हैं।

सिर्फ,
1-2 बच्चे ही
कॉलेज
पहुंच पाते हैं।

इस प्रकार अधिकतर समाज के लिए यह स्कूल व्यवस्था कोई खास मतलब नहीं रखती।

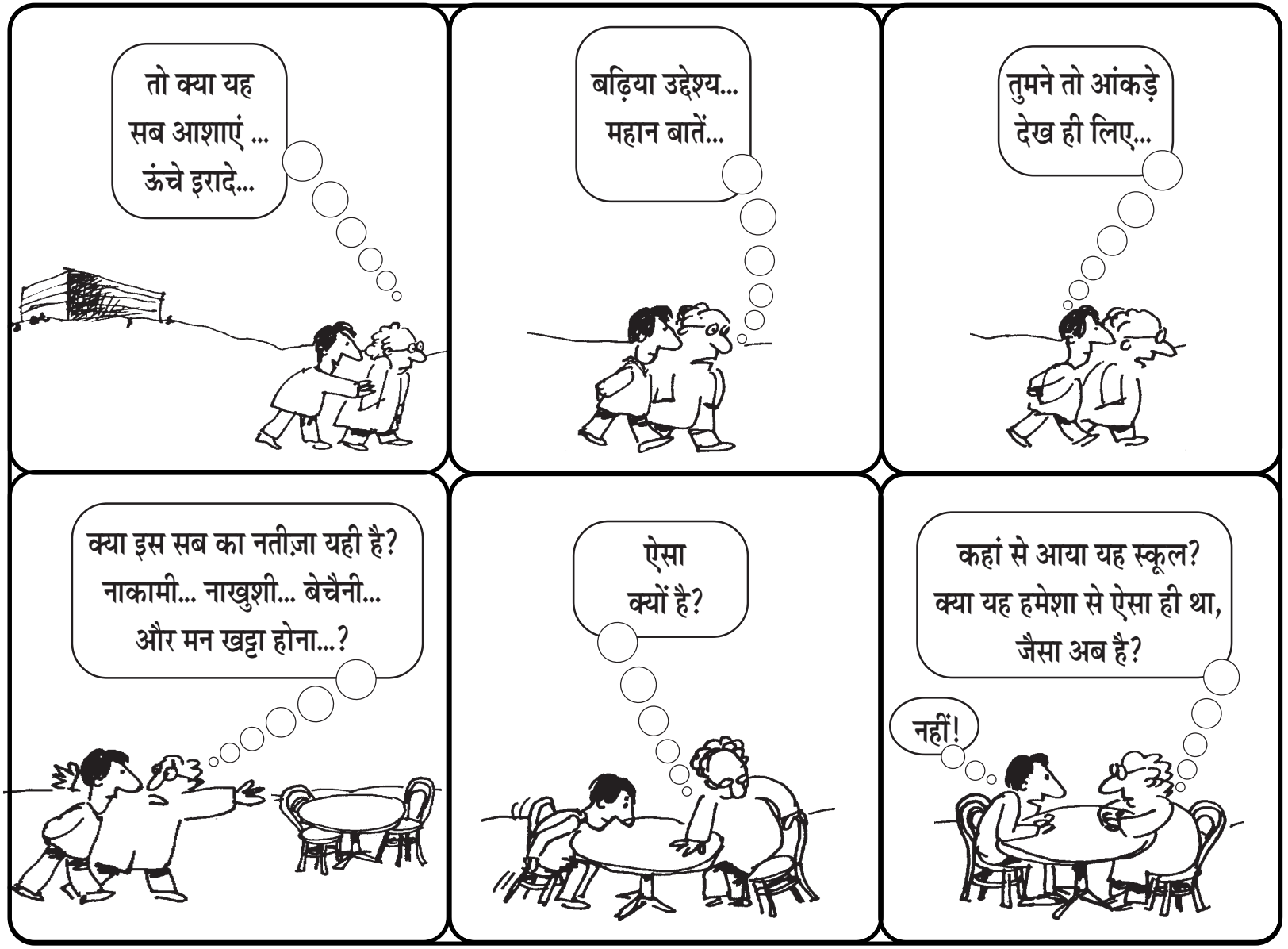
तो क्या यह
सब आशाएं ...
ऊंचे इरादे...
बढ़िया उद्देश्य...
महान बातें...
तुमने तो आंकड़े
देख ही लिए...
क्या इस सब का नतीज़ा यही है?
नाकामी... नाखुशी... बेचैनी...
और मन खट्टा होना...?
ऐसा
क्यों है?
कहां से आया यह स्कूल?
क्या यह हमेशा से ऐसा ही था,
जैसा अब है?
नहीं!

शिक्षा, बिना स्कूल के

ऐसे समाज, जिनमें स्कूल नाम की कोई चीज़ नहीं है, पहले भी थे और अब भी हैं।

लोग विभिन्न कामों के लिए औज़ार इज़ाद करते थे। साथ-साथ उनकी मान्यताएं, मूल्य व आपसी व्यवहार के तरीके विकसित हो गए यानी उस समय शिक्षा प्राकृतिक व सामाजिक पर्यावरण से ही उभरती रही।

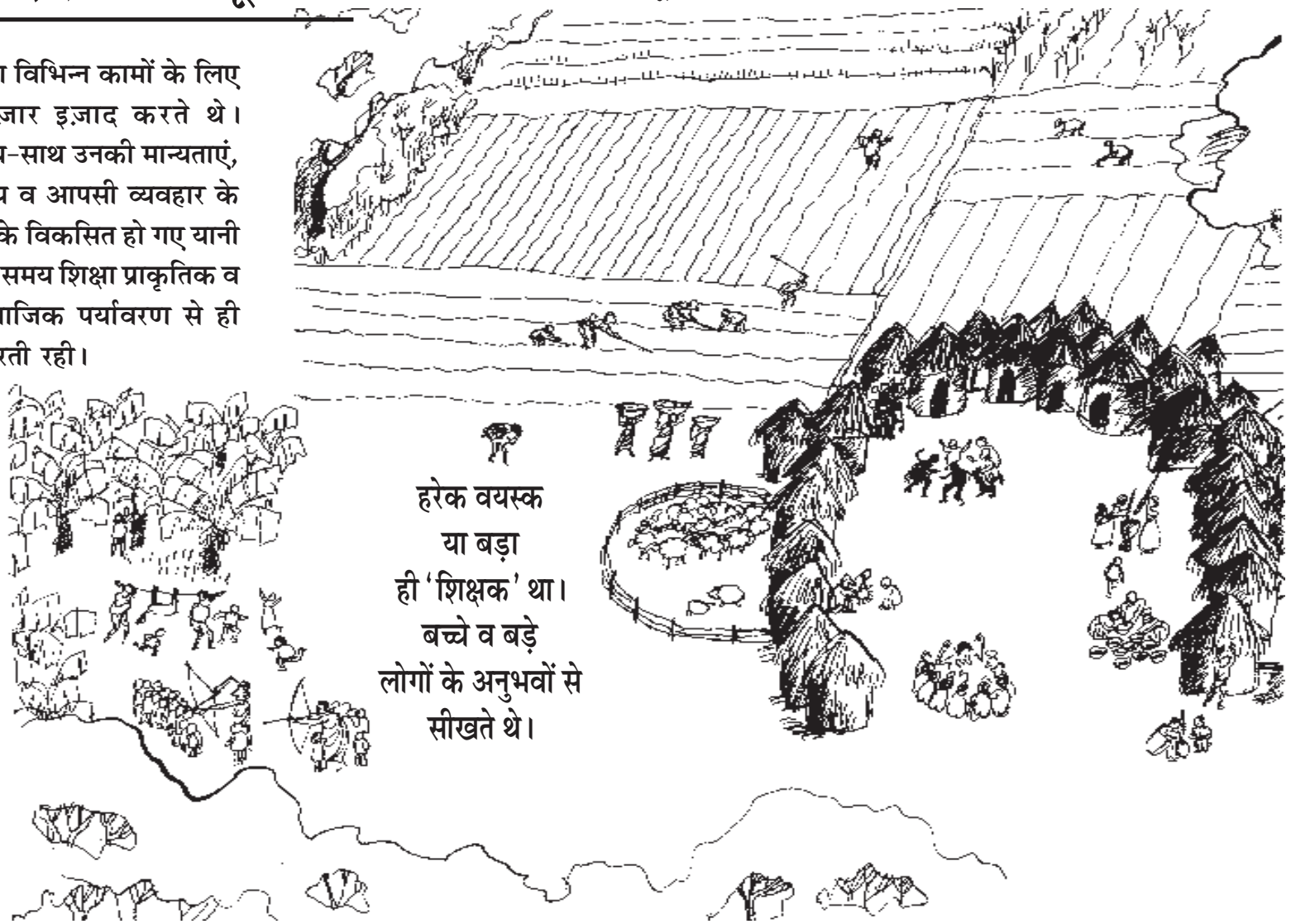

हरेक वयस्क
या बड़ा
ही 'शिक्षक' था।
बच्चे व बड़े
लोगों के अनुभवों से
सीखते थे।

वे 'करके' सीखते थे।
इस तरह ज्ञान, मेहनत व जीवन
एक दूसरे से अलग-अलग नहीं थे।

वहां कोई स्कूल रूपी
ज्ञान का वृक्ष अलग से नहीं था,
बल्कि ज़िंदगी के वृक्ष की शाखाओं पर
ही ज्ञान खिलता था।

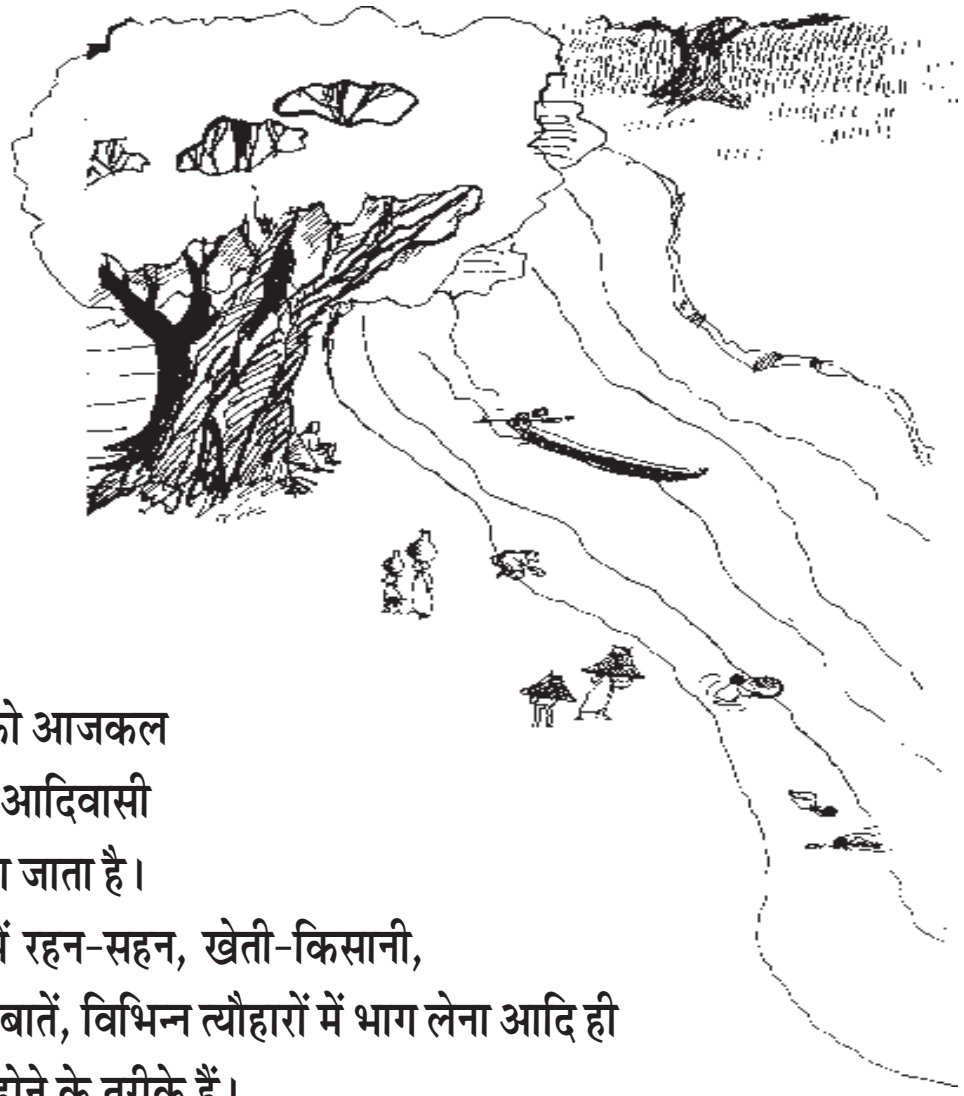

इन समाजों को आजकल
'पिछड़ा' और आदिवासी
कहकर पुकारा जाता है।
ऐसे समाजों में रहन-सहन, खेती-किसानी,
बड़े-बूढ़ों की बातें, विभिन्न त्यौहारों में भाग लेना आदि ही
स्वयं शिक्षित होने के तरीके हैं।

'सभ्य' स्कूल

मध्यकालीन यूरोप में ऐसा बदलाव आया कि शिक्षा स्कूली व्यवस्था का उत्पादन बन गई। जिस तरह से अपने देश में प्राचीन काल में समाज का एक वर्ग – ब्राह्मण – ज्ञान का भंडार माना जाता था, उसी तरह यूरोपीय समाज में सिखाने वाला एक वर्ग खड़ा हो गया। इस वर्ग में आमतौर पर पादरी थे। ये लोग ज्ञान को एक बनावटी वातावरण में फैलाने में माहिर बन गए। यह वातावरण रोज़मर्रा की ज़िंदगी और व्यस्कों से दूर हो गया। यही थी स्कूली व्यवस्था की शुरुआत। ज्यों-ज्यों सदियां बीतती गईं, यह स्कूल धनवानों के लिए रिज़र्व होते गए। बाकी लोग – किसान, मज़दूर या अन्य सर्वहारा – अपने जीवन के संघर्ष से ही शिक्षित रहे।

'सभ्य' लोगों के इस स्कूल में पुरानी परंपराओं और नैतिक मूल्यों पर खूब ज़ोर दिया जाता था। कुछ हद तक बोलने में माहिरी व फिलॉसफी पर भी ज़ोर था। वैज्ञानिक सोच-समझ, जिससे बदलाव आने का डर था, भाषणबाजी और लैटिन भाषा से कम महत्व की थी। आखिर यही दो चीज़ें तो ऐसी परंपरा की प्रतीक थीं जिसके अंतर्गत दुनिया और उसके समाज को कभी न बदलने वाला माना जाता था।

ऐसे 'सभ्य' वर्गों के लिए पढ़ना-लिखना अपनी तथाकथित 'सभ्यता' को कायम रखने का एक ज़रूरी हथियार बन गया।

सन् 1802 में डेस्टूट डी. ट्रेसी नाम के एक साहब ने शिक्षा के इस बंटवारे पर एक टिप्पणी की थी। इस टिप्पणी को पढ़ते हुए लगता है जैसे यह हमारी वर्तमान शिक्षा नीति की भविष्यवाणी थी।

जनाब डेस्टूट ने लिखा :

''किसी भी सभ्य समाज में यह अनिवार्य है कि लोगों के दो वर्ग हों। एक वर्ग मेहनत से अपना जीवन यापन करने वालों का और दूसरा उनका जो सम्पत्ति या दिमागी श्रम से आय उत्पन्न करते हैं। पहले को हम श्रमिक वर्ग कहते हैं और दूसरे को मैं शिक्षित वर्ग कहूंगा।''

''श्रमिकों को तो जल्द-से-जल्द अपने बच्चों के श्रम की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए इन बच्चों को छोटी उम्र से ही कठिन परिश्रम के काम सीखना ज़रूरी है और यही उनके भाग्य में है। इसी वज़ह से इनका स्कूल में ज़्यादा देर तक रहना फिज़ूल है...''

''लेकिन शिक्षित वर्ग के बच्चे आराम से पढ़ाई-लिखाई में अपना समय लगा सकते हैं, क्योंकि जो उनकी किस्मत में है उसको पाने के लिए उन्हें उच्च शिक्षा की ज़रूरत रहती है। उन्हें ऐसा ज्ञान हासिल करना भी ज़रूरी है जो एक विकसित दिमाग ही हासिल कर सकता है... ''

''यह सब ऐसे मसले हैं जो मनुष्यों के हाथ में नहीं है। यह तो मानव व समाज की प्रकृति में ही निहित हैं... इनको कोई नहीं बदल सकता... हमें अटल चीज़ों को ही ध्यान में रखकर सोचना चाहिए...''

इस सबसे हमें यही निष्कर्ष निकालना चाहिए कि अगर किसी भी एक राष्ट्र में नागरिकों की शिक्षा के प्रति सही नज़रिया अपनाया जा रहा हो तो दो बिल्कुल अलग-अलग शिक्षा व्यवस्थाएं होनी चाहिए जिनमें कोई आपसी संबंध न हो।''

एक स्कूल अमीरों का

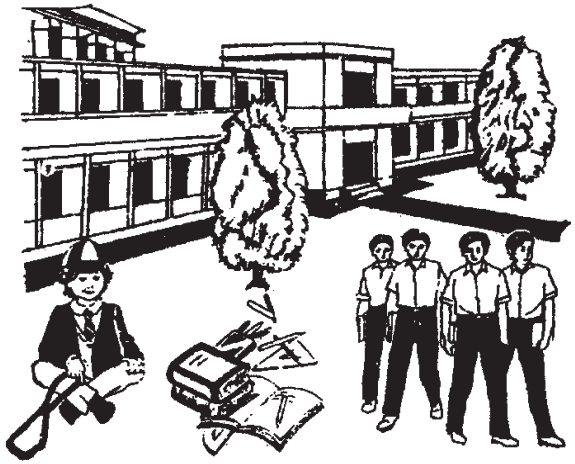

'सभ्य' स्कूल तब तक टिके रहे जब तक समाज में सामंती प्रथा चलती रही। लेकिन पूंजीवादी समाज आने से फर्क आना ज़रूरी हो गया, क्योंकि पूंजीवाद की नींव खेती न होकर कारखाने थे।

मशीनीकरण ने तो दुनिया का नक्शा ही बदल दिया। नई टेक्नोलॉजियों के साथ-साथ नए सामाजिक वर्ग भी उभरने लगे। पुराने ज़मींदार वर्ग के अलावा, एक नए औद्योगिक मध्यम वर्ग ने समाज में जड़ जमानी शुरू कर दी। और नए उत्पादन केन्द्रों यानी कल-कारखानों के इर्द-गिर्द गरीब कामगार व मज़दूर जमा होते गए।

इस बदलते समाज में भी स्कूल में पहुंच उच्च वर्ग की ही रही। लेकिन नई अर्थव्यवस्था को अब ज़रूरत पड़ी विज्ञान व टेक्नोलॉजी की, इसलिए स्कूल में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रम में बदलाव आया और स्कूलों को आधुनिक होना पड़ा। विज्ञान व टेक्नोलॉजी के विषय भी परंपरागत विषयों, जैसे फिलॉसफी, लैटिन आदि की तरह महत्व के समझे जाने लगे।

और एक स्कूल गरीबों का

मध्यम वर्ग जो समाज में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरा था इस बात की फिक्र करने लगा कि हज़ारों-लाखों 'नासमझ' मज़दूर भी न्यूनतम शिक्षा पाकर अनुशासित कामगार व 'अच्छे' नागरिक बनें।

इस तरह धीरे-धीरे अमीरों के स्कूलों के साथ-साथ एक और स्कूल उपजा — गरीबों का स्कूल। इस स्कूल का मकसद यह था कि भविष्य के कामगारों को थोड़ा 'सभ्य' बनाया जाए ताकि वे औद्योगिक समाज की सीढ़ी के पहले कदम पर रहने योग्य हो जाएं।

यह दोहरी पढ़ाई एक दोहरे समाज का आईना बनकर सामने आई। कामगारों के बच्चे 'प्राथमिक स्कूलों' में जाने लगे। इन स्कूलों में यह निश्चित था कि पढ़ाई कुछ ही साल की हो, लंबे अर्से की नहीं! उच्च वर्ग के बच्चों का रास्ता अलग था और उनके भविष्य का ज़िम्मा उन्हीं के वर्ग के हाथ में था।

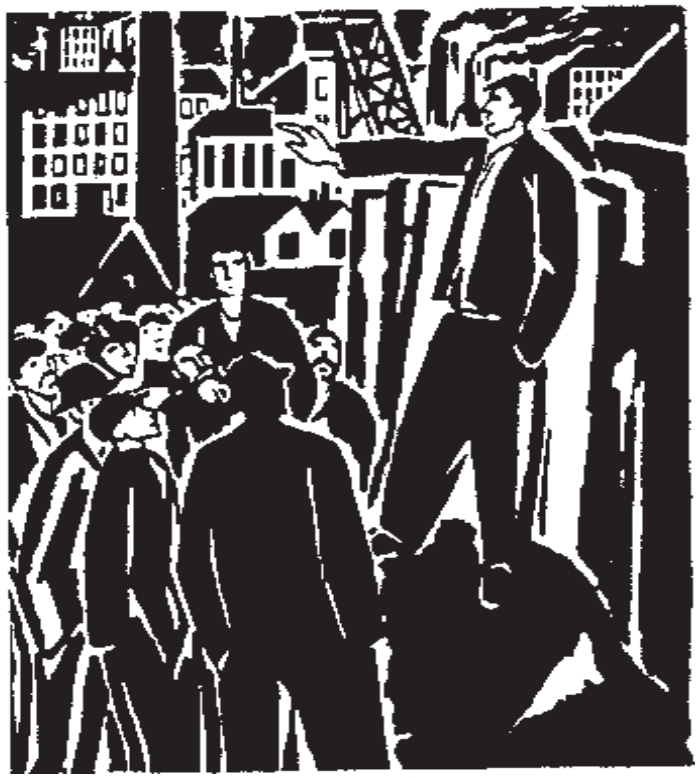

मशीनों के कमरतोड़ काम के तरीकों मे जकड़े और पूंजीवाद के सताए हुए मेहनतकशों में आहिस्ता-आहिस्ता अपने हकों के लिए संघर्ष करने की क्षमता बढ़ती गई...

प्रजातांत्रिक स्कूल की ओर?

'शिक्षा व संस्कृति में भागीदारी' एक मुख्य मांग के रूप में सामने आई : सभी स्कूल जा सकें, यह अधिकार मिलना चाहिए।

मुफ्त एवं आवश्यक पढ़ाई को प्रजातांत्रिक शिक्षा प्रणाली की चाबी माना गया। मज़दूरों व कामगारों की यह अपेक्षा बनने लगी कि एक ऐसी 'स्कूली व्यवस्था' जो लोक सेवा के रूप में सबके लिए उपलब्ध होगी, उनको समाज में गैर-बराबरी के जंजाल से मुक्त करने का साधन बन जाएगी।

आखिरकार यह मांगें यूरोपीय देशों में मान ली गईं। बच्चों की स्कूली शिक्षा की अवधि बढ़ाई गई। स्कूल से बाहर निकलने की आयु फ्रांस में 13 वर्ष और इंग्लैंड में 16 वर्ष कर दी गई। पहले सिर्फ प्राथमिक शिक्षा ही मुफ्त थी, धीरे-धीरे उच्चतर शिक्षा भी मुफ्त उपलब्ध कराई जाने लगी।

इस तरह एक दोहरी शिक्षा व्यवस्था का खात्मा हो गया। सभी वर्ग के बच्चों की शिक्षा की शुरुआत अब एक ही तरह के स्कूल से होने लगी। इस स्कूल की पढ़ाई खत्म होने के बाद आगे की शिक्षा के दो रास्ते थे — एक उच्च शिक्षा का और दूसरा तकनीकी शिक्षा का। इन रास्तों पर जाना काबलियत पर आधारित था। सफल बच्चे लंबे रास्ते के हकदार होने लगे (यानी विश्वविद्यालय इत्यादि) और बाकी कुछ नौकरीपेशा शिक्षा के।

इसका मतलब यह हुआ कि चयन, जो पहले जन्म व संपत्ति पर आधारित था, अब स्कूली शिक्षा तय करने लगी। ऐसा लगने लगा कि जैसे अब चयन ज़्यादा इंसाफ से हो रहा हो।

शिक्षा को प्रजातांत्रिक बनाने का लंबा संघर्ष क्या सफल माना जाना चाहिए?

अगर शिक्षा को प्रजातांत्रिक बनाने का मतलब यह है कि हर साल, पिछले साल की तुलना में कुछ अधिक बच्चे स्कूल में दाखिला लेते हैं, या कुछ अधिक डिग्रियां दी जाती हैं; तो हां, किसी हद तक शिक्षा प्रजातांत्रिक हो गई है।

लेकिन अगर शिक्षा को प्रजातांत्रिक बनाने का मतलब यह है कि समाज के हर वर्ग के बच्चों को बराबर का मौका व सुविधा मिले; तो नहीं, अभी संघर्ष सफल नहीं हुआ है।

अगर सभी की शुरुआत एक जैसे स्कूल से हो और सबके लिए बराबर सुविधाएं हों, जैसे मुफ्त व आवश्यक शिक्षा, तो सबसे 'अच्छे', 'प्रतिभावान' व 'हकदार' को ज़रूर सफल होना चाहिए, चाहे वह समाज के किसी भी वर्ग में जन्मा हो।

शिक्षा की दौड़

वास्तविकता क्या है?

मेहनतकशों के बच्चों के लिए शिक्षा के कुछ रास्ते खुल गए हैं,
लेकिन इन बच्चों की सफलता की संभावनाए अन्य वर्गों के बच्चों से काफी कम हैं।

सामाजिक गैर-बराबरी तो वहीं की वहीं है।

1. फेल होना, पिछड़ जाना

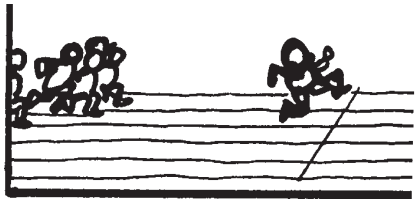

प्राथमिक स्तर पर,
अन्य वर्गों की अपेक्षा
मेहनतकशों के बच्चे
अधिक फेल होते हैं।

2. चयन प्रथा

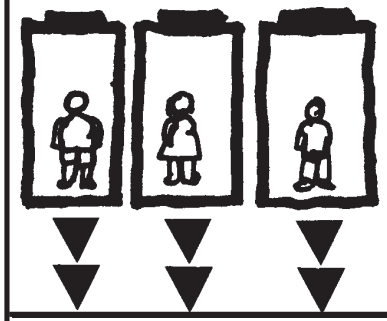

शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में
जाने की संभावनाएं
बच्चों की सामाजिक
पृष्ठ भूमि से जुड़ी हैं।

3. स्कूल छोड़ना

अब तो यह धारणा मज़बूत हो गई है कि
पढ़ाई में पिछड़ना स्कूल छोड़ने का एक मुख्य कारण है।
इसके शिकार अधिकतर गरीब तबके के बच्चे होते हैं।
यूनेस्को के एक सर्वेक्षण ने इस बात की पुष्टि की है।

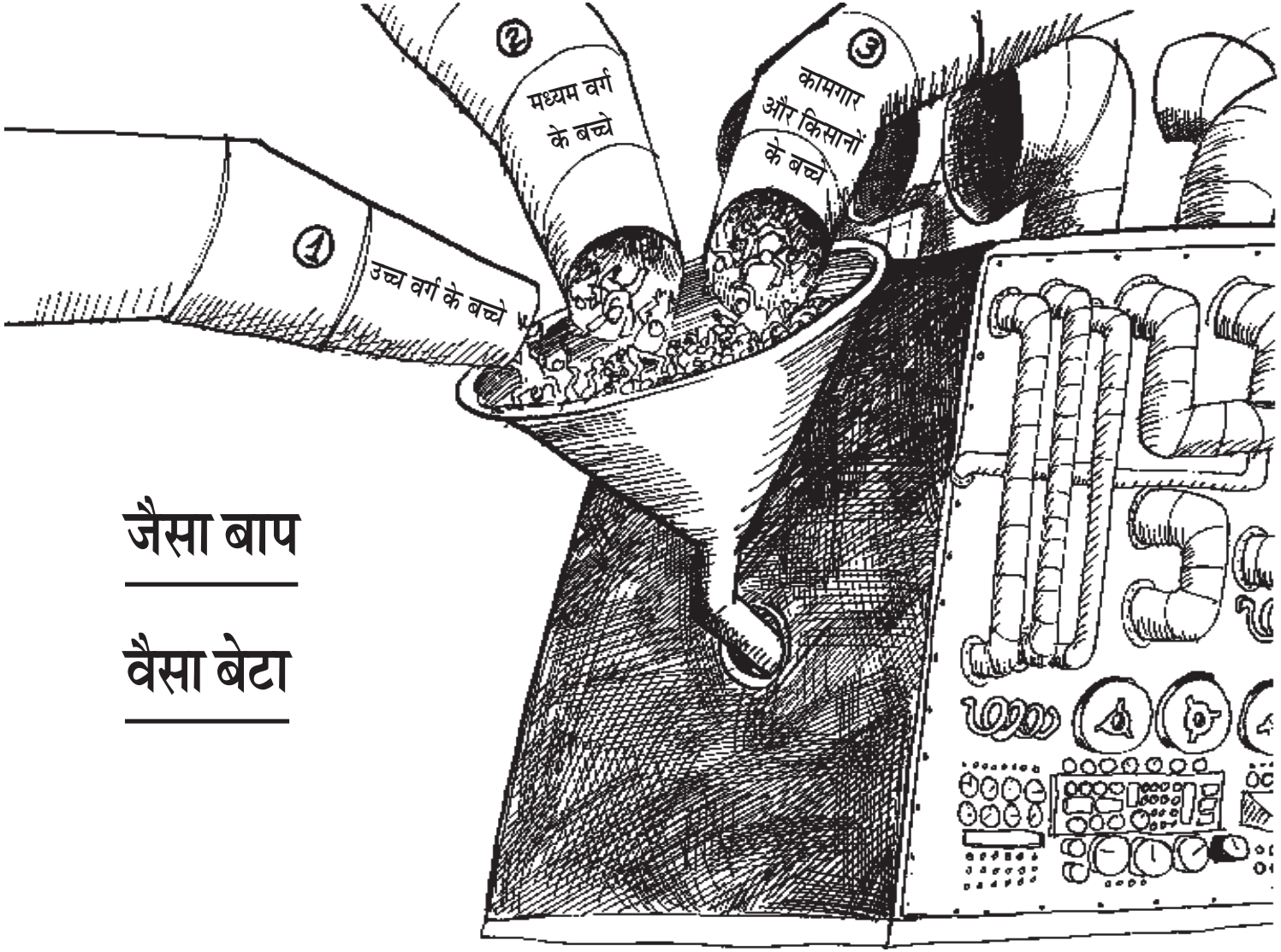

जैसा बाप

वैसा बेटा

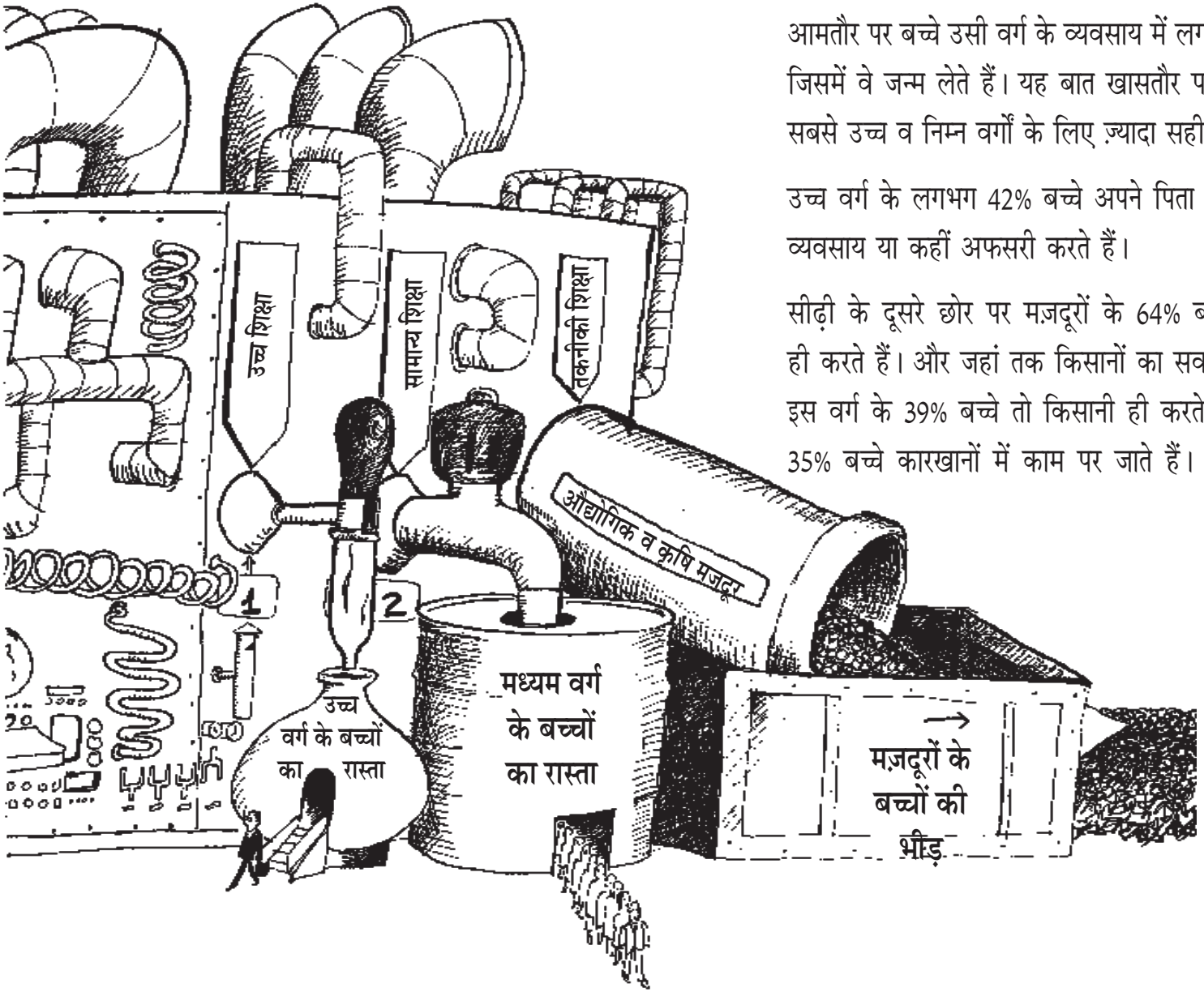

आमतौर पर बच्चे उसी वर्ग के व्यवसाय में लग जाते हैं जिसमें वे जन्म लेते हैं। यह बात खासतौर पर समाज के सबसे उच्च व निम्न वर्गों के लिए ज़्यादा सही है।

उच्च वर्ग के लगभग 42% बच्चे अपने पिता की तरह ही व्यवसाय या कहीं अफसरी करते हैं।

सीढ़ी के दूसरे छोर पर मज़दूरों के 64% बच्चे मज़दूरी ही करते हैं। और जहां तक किसानों का सवाल है, इस वर्ग के 39% बच्चे तो किसानी ही करते हैं और 35% बच्चे कारखानों में काम पर जाते हैं।

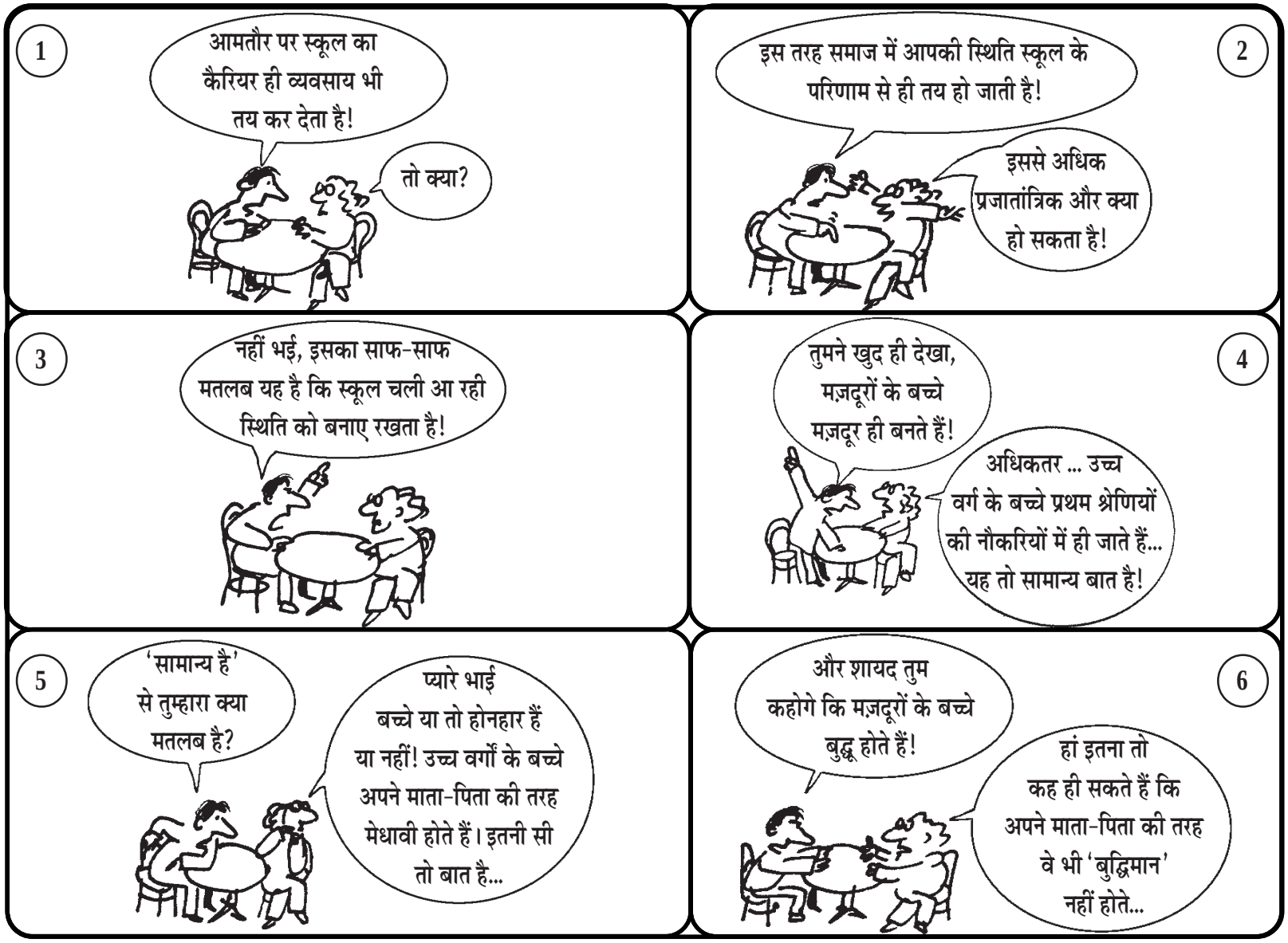
1
आमतौर पर स्कूल का कैरियर ही व्यवसाय भी तय कर देता है!
तो क्या?
2
इस तरह समाज में आपकी स्थिति स्कूल के परिणाम से ही तय हो जाती है!
इससे अधिक प्रजातांत्रिक और क्या हो सकता है!
3
नहीं भई, इसका साफ-साफ मतलब यह है कि स्कूल चली आ रही स्थिति को बनाए रखता है!
4
तुमने खुद ही देखा, मज़दूरों के बच्चे मज़दूर ही बनते हैं!
अधिकतर ... उच्च वर्ग के बच्चे प्रथम श्रेणियों की नौकरियों में ही जाते हैं... यह तो सामान्य बात है!
5
'सामान्य है' से तुम्हारा क्या मतलब है?
प्यारे भाई बच्चे या तो होनहार हैं या नहीं! उच्च वर्गों के बच्चे अपने माता-पिता की तरह मेधावी होते हैं। इतनी सी तो बात है...
6
और शायद तुम कहोगे कि मज़दूरों के बच्चे बुद्धू होते हैं!
हां इतना तो कह ही सकते हैं कि अपने माता-पिता की तरह वे भी 'बुद्धिमान' नहीं होते...

7

बुद्धि तो भई बराबर-बराबर
बंटी रहती है नहीं।
इसके लिए कोई कुछ नहीं कर सकता
- न समाज और न स्कूल!

8

यह
गलत है!

9

नाकामी के कारण
कहीं और ढूंढने होंगे!
कहीं और?
कहां?

10

...स्कूली
व्यवस्था के छुपे हुए
चलन में?
'छुपे हुए?'
क्या मतलब
तुम्हारा!

11

एकाध शिक्षक की तमाम कोशिशों
के बाजवूद इस बात को समझना होगा कि
स्कूल व्यवस्था में ऐसा क्या है कि कुछ बच्चे
आगे बढ़ते हैं और अधिकांश पीछे रह जाते हैं...

12

शिक्षा की यह मशीनरी
कुछ इस तरह बनी है कि सामान्यत: वह एक शिक्षक
के बेटे को आगे बढ़ाएगी, लेकिन मज़दूर के बच्चे
को रिजेक्ट करेगी।
इस बात को सिद्ध
करना पड़ेगा।

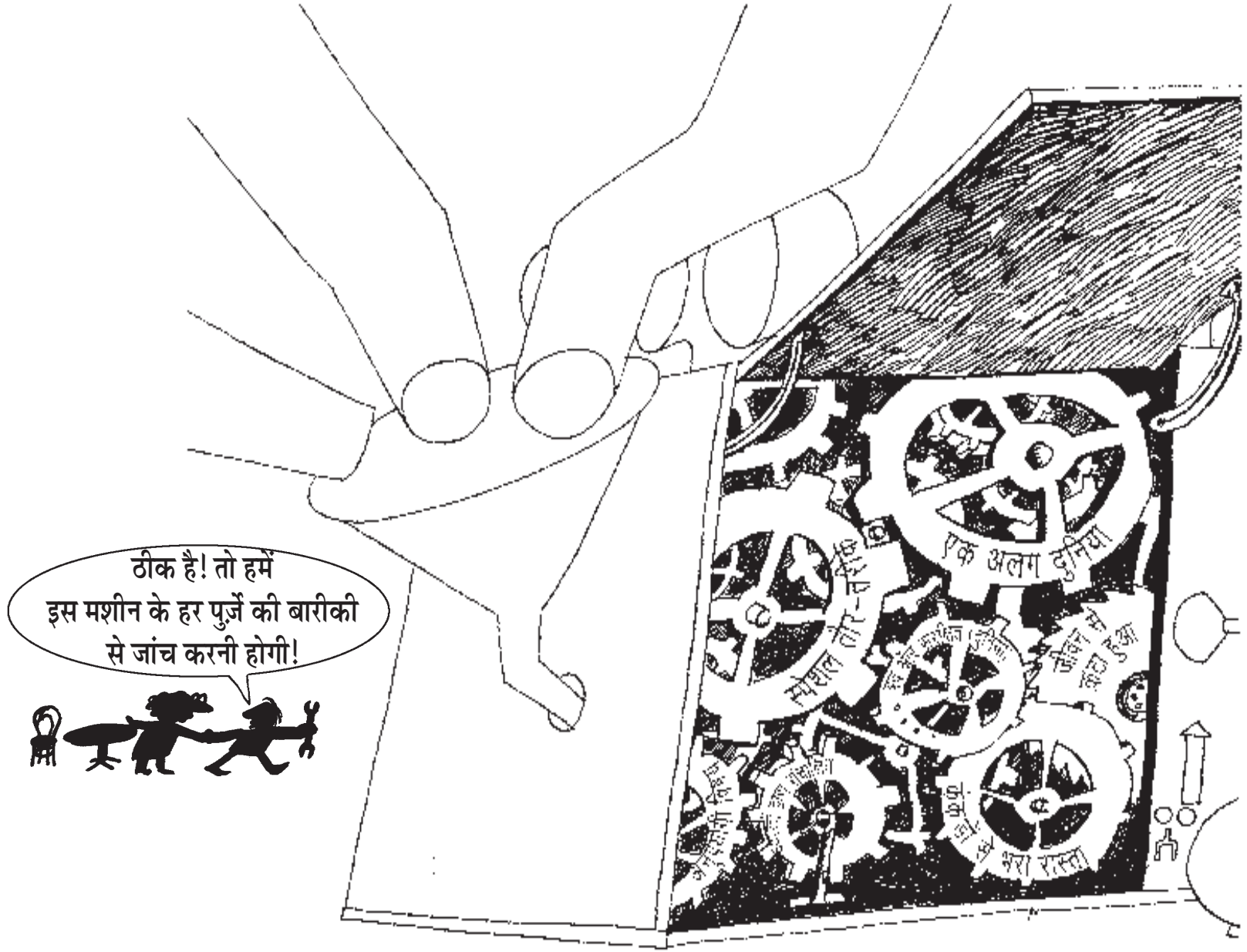
ठीक है! तो हमें
इस मशीन के हर पुर्ज़े की बारीकी
से जांच करनी होगी!
एक अलग दुनिया

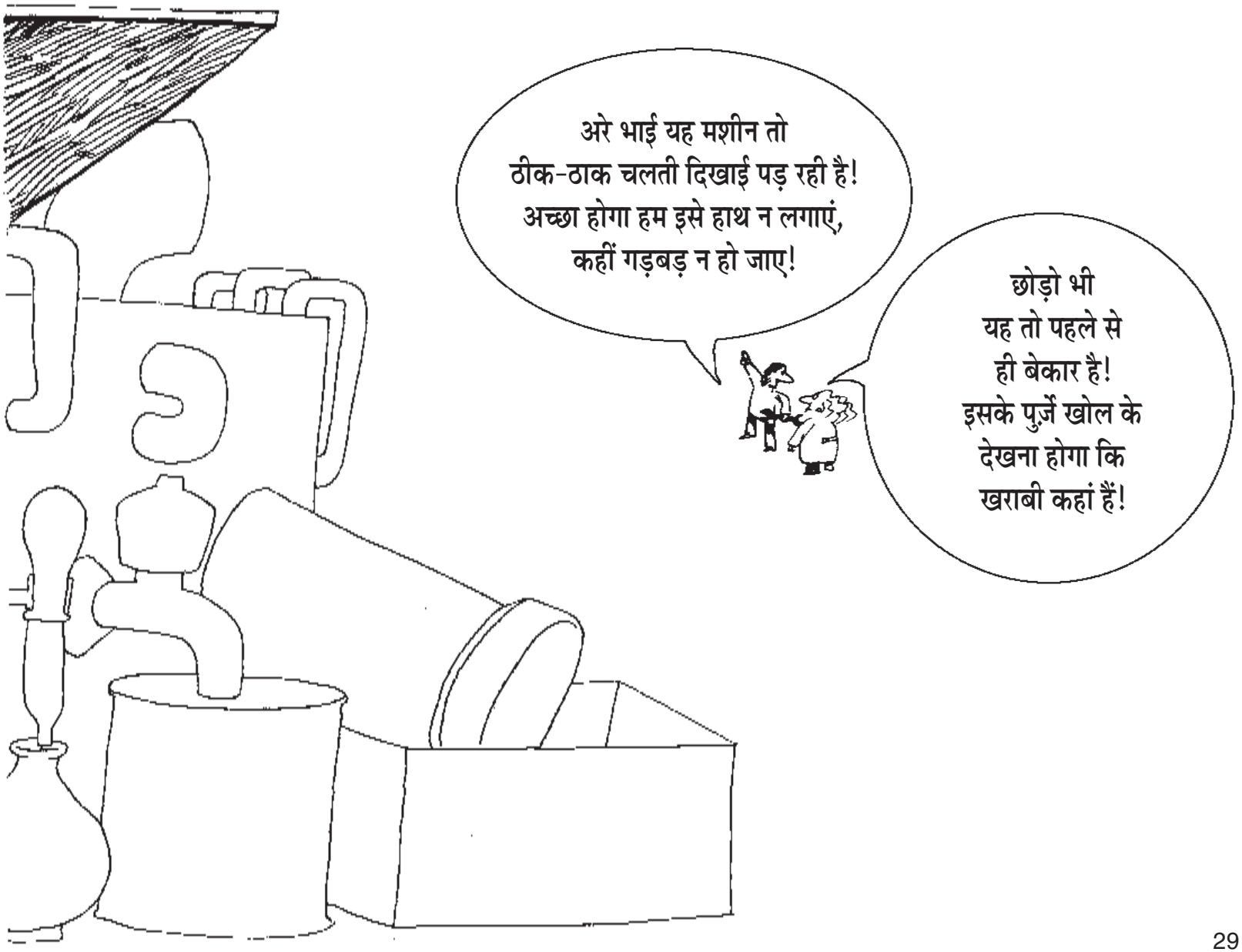
अरे भाई यह मशीन तो
ठीक-ठाक चलती दिखाई पड़ रही है!
अच्छा होगा हम इसे हाथ न लगाएं,
कहीं गड़बड़ न हो जाए!
छोड़ो भी
यह तो पहले से
ही बेकार है!
इसके पुर्ज़े खोल के
देखना होगा कि
खराबी कहां हैं!

एक अलग दुनिया...

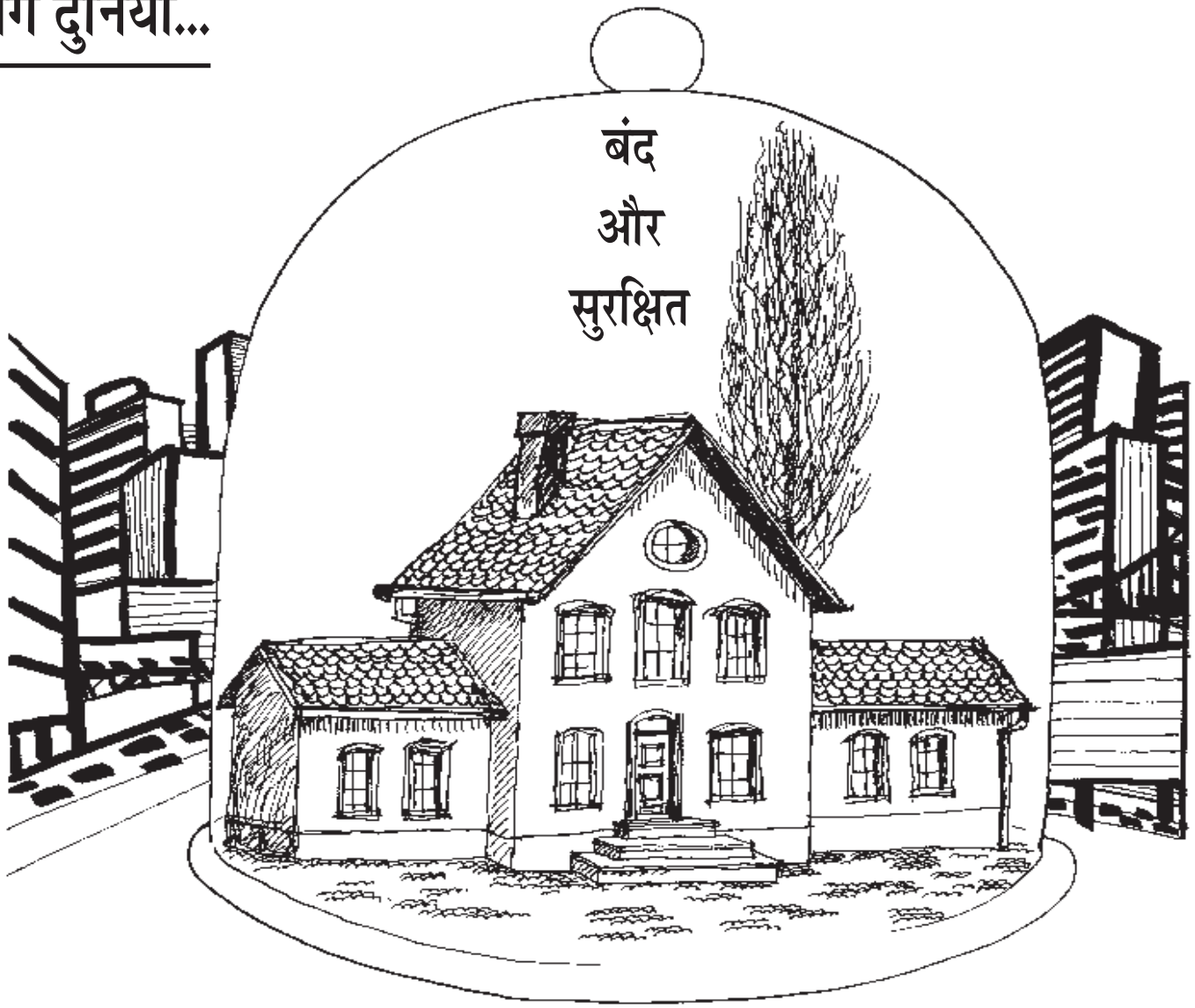

--- जहां बच्चों को
एक रजिस्टर्ड पार्सल की तरह
जमा किया जाता है।

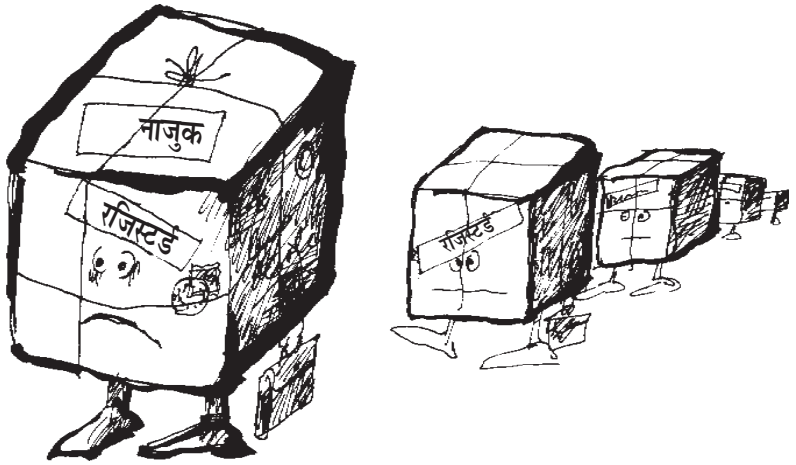

--- जहां दाखिला पाना
सबके बस की बात नहीं
और अभिभावक भी अपने को
परदेसी महसूस करते हैं।

ज़िंदगी से ज़ुदा

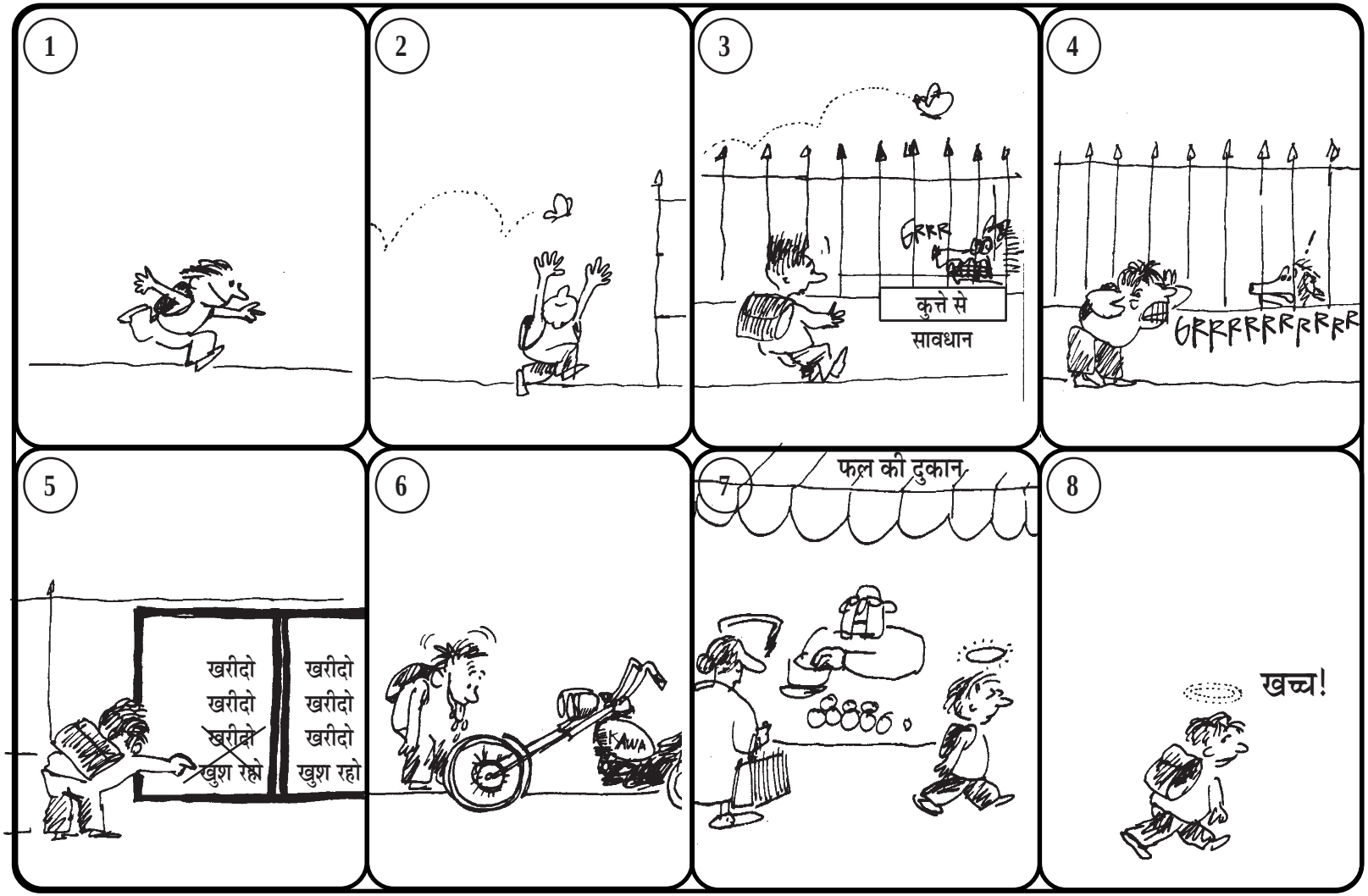
1
2
3
GRRR
कुत्ते से
सावधान
4
GRRRRRRRRRR
5
खरीदो
खरीदो
खरीदो
खुश रहो
खरीदो
खरीदो
खरीदो
खुश रहो
6
EKAWA
7
फल की दुकान
8
खच्च!

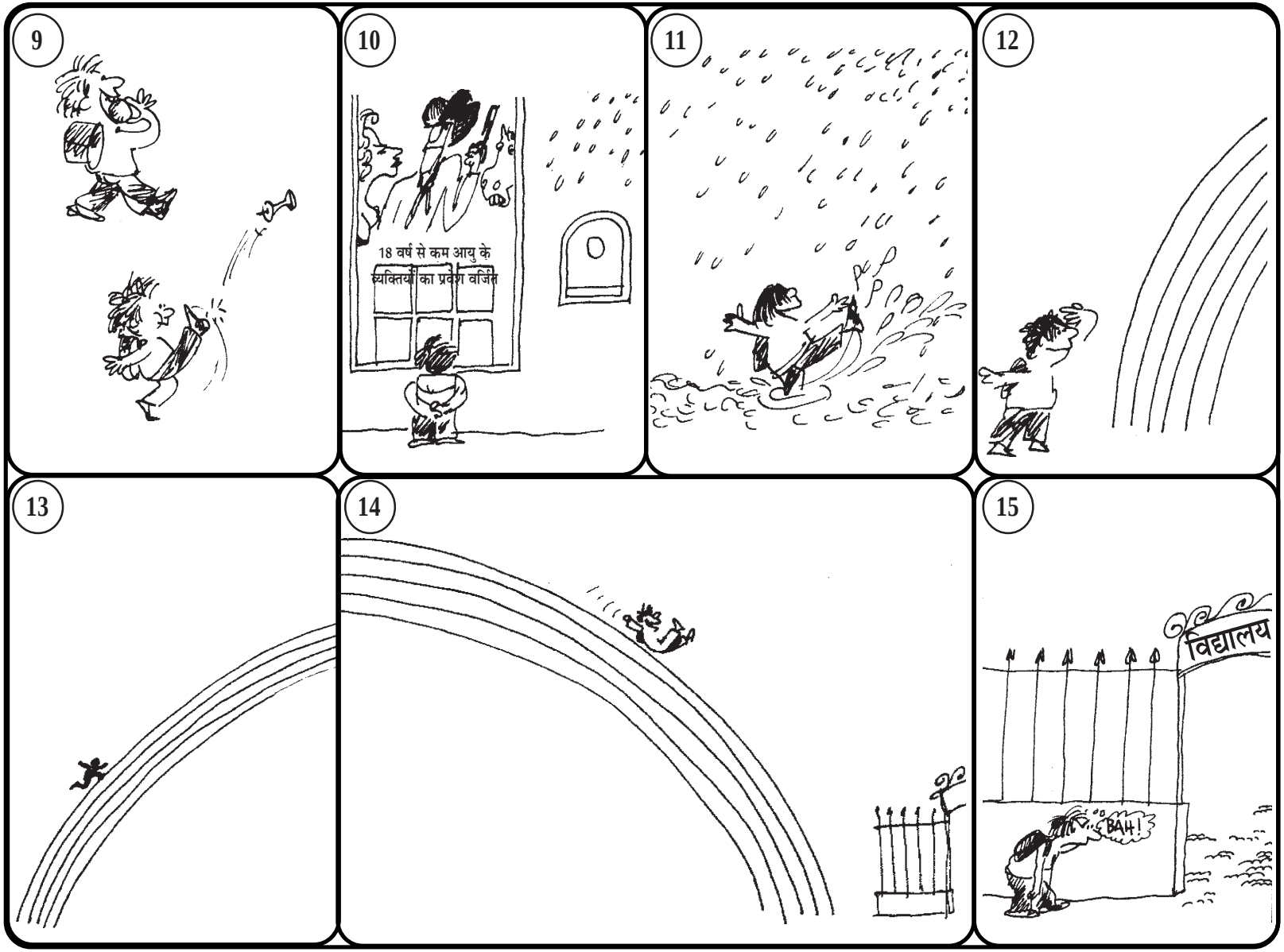
9
10
18 वर्ष से कम आयु के
व्यक्तियों का प्रवेश वर्जित
11
12
13
14
15
विद्यालय
BAH!

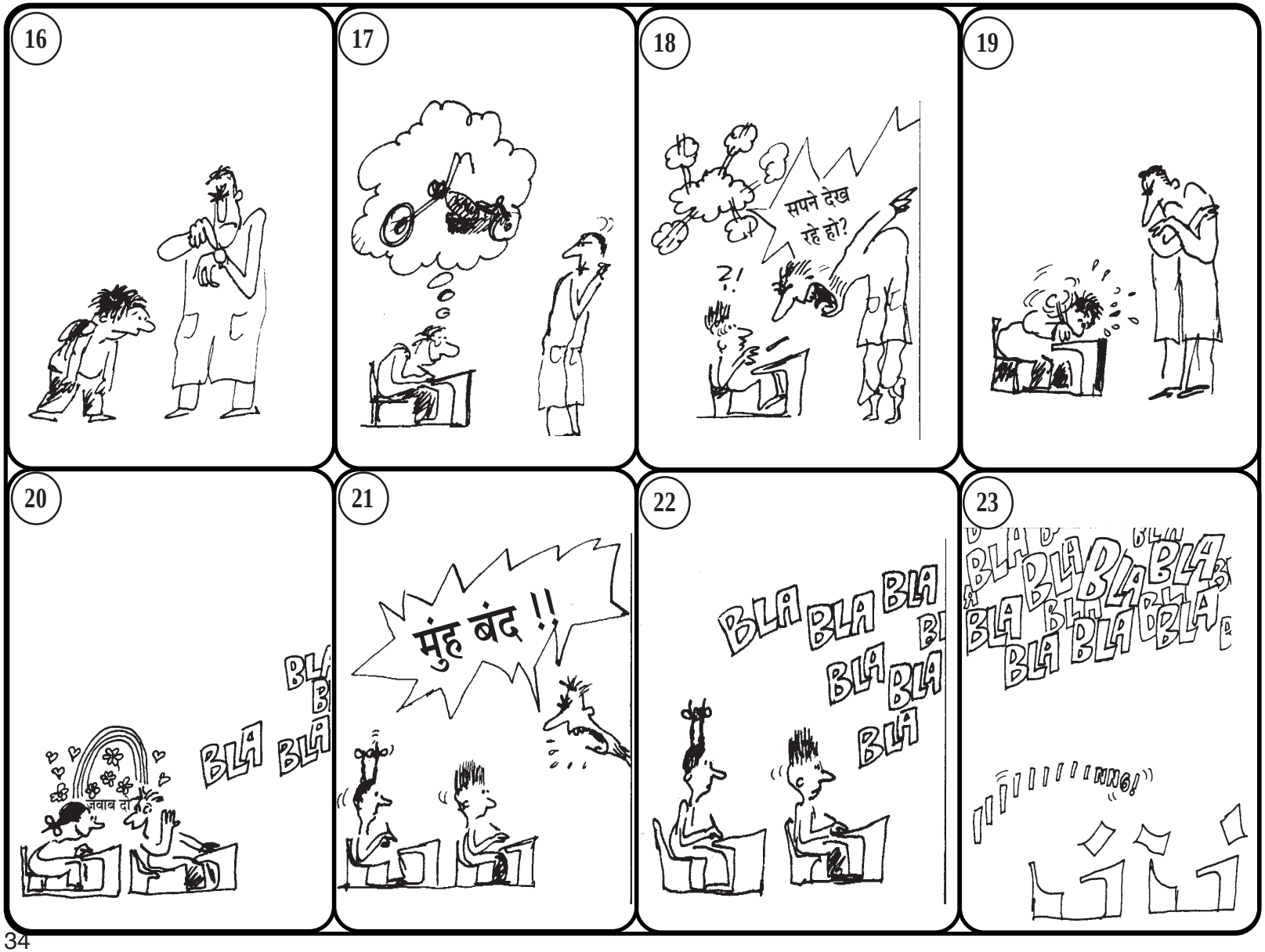
16
17
18
सपने देख रहे हो?
?!
19
20
BLA
BLA
BLA
जवाब दो
21
मुंह बंद !!
22
BLA BLA BLA
BLA BLA
BLA
23
BLA BLA BLA BLA
BLA BLA BLA BLA
BLA BLA BLA
RING!

छह साल की उम्र से ही बच्चों को लाइन में या तो ज़मीन पर बिठाया जाता है या लकड़ी के सख्त तख्तों पर अनुशासन से चिपकने की हिदायत दी जाती है। उनसे कहा जाता है हिलो-डुलो मत, न आजु-बाजू देखो, न पीछे। और फिर घंटों उनको तरह-तरह के विचित्र शब्द सुनाए जाते हैं। सुनाने वाला एक इंसान जाता है तो दूसरा आता है। क्या यह एक महज़ इत्तफाक है कि इस मानव ऊर्जा और जिज्ञासा के बंडलों को डरा-धमकाकर घंटों बिना हिले-डुले चारदीवारी में बंद करके रखा जाता है। जबकि बाहर खुली हवा, सूरज की रोशनी और गर्मी में जीवन पनपता है? पेशाब-पानी की छुट्टी भी छह घंटों में चंद मिनिट की ही होती है, वह भी एक निश्चित समय पर!

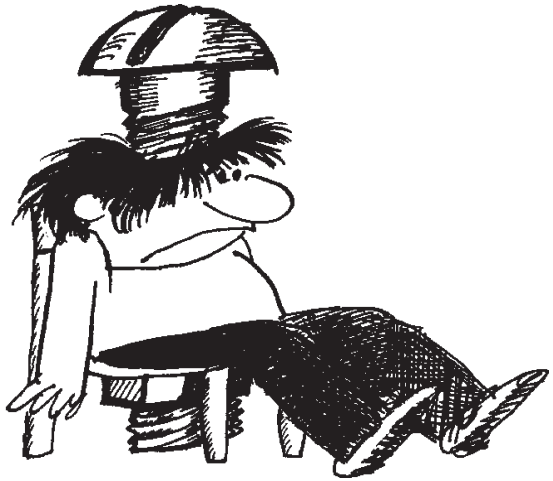

जहां बुत की तरह बैठो और चुप रहो

जीवन को नष्ट करने का इससे अच्छा उपाय क्या हो सकता है? इस व्यवस्था से मांस-पेशियां, इंद्रियां, अंदरूनी अंग, तंत्रिकाएं और दिमाग की कोशिकाएं थक जाती हैं। वास्तव में शिक्षक के भाषण से अधिक हानि पहुंचाती है बैठने की यह मुद्रा! अब यह माना गया है कि लगातार इस मुद्रा में बैठने से शरीर की शिराओं आदि को नुकसान पहुंचता है और 20% से अधिक बच्चों की रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाती है। लगभग एक सदी से (जब से इस तरह के स्कूल शुरू हुए हैं) बच्चे इस मुद्रा में बेचैनी से पांव सहलाते रहे हैं, हाथ इधर-उधर करते रहे हैं और घंटी बजने पर रायफल से निकली गोली की तरह भागते रहे हैं। इस बेचैनी को अनुशासनहीनता नाम दिया गया है और कभी नहीं समझा जाता है कि यह बेचैनी एक बंधन का नतीज़ा है, जो बच्चों पर थोपा गया है। नहीं, यह सब इत्तफाक नहीं है, यह सब तो जान-बूझकर किया जाता है। इसको बदलना होगा, तोड़ना होगा।

जहां नियम पहले से ही तय हैं...

एक चौदह वर्षीय छात्र से घर में पूछा गया:
'मौखिक भाषा यानी बोलने के लिए
स्कूल में अब तक किस तरह की तालीम दी गई है?'
उत्तर मिला: 'हमें चुपचाप बैठना सिखाया जाता है।'

नए प्रशिक्षित शिक्षकों से पूछा गया:
'अच्छे छात्रों के क्या लक्षण होने चाहिए?'
41% ने जवाब दिया: ध्यान से सुनना, अनुशासन व आज्ञाकारिता
2% ने जवाब दिया: तार्किक चिंतन व समझदारी।

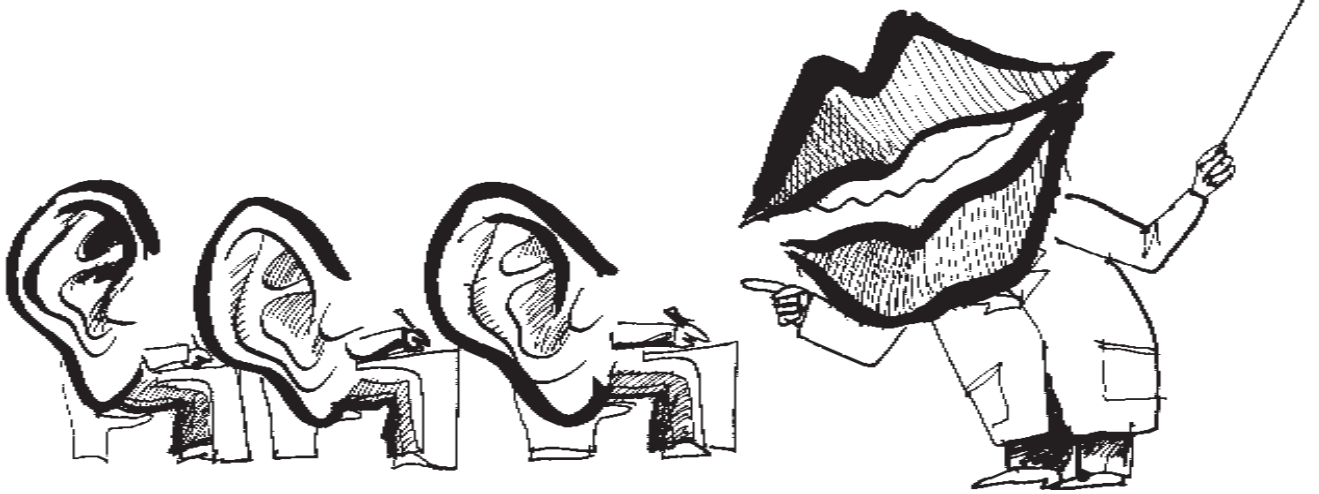

छात्र
चुप बैठते हैं,
सुनते हैं
और
आदेशों का
पालन करते हैं।

शिक्षक ही
बोलता है,
जानता है,
आदेश देता है,
तय करता है,
फैसला करता है
और सज़ा देता है।

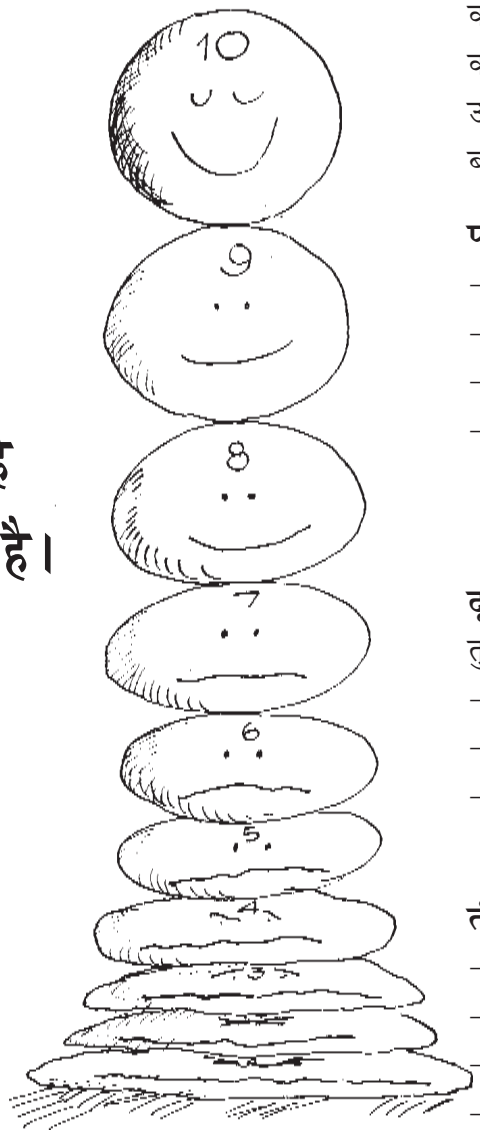

मज़े की बात यह है कि आमतौर पर शिक्षक और छात्र के इस प्रकार के रोल को सामान्य व प्राकृतिक माना जाता है। कक्षा में क्या होना चाहिए, यह तय करने का हक छात्र को नहीं है। छात्र अपने को वैसा ही समझे जैसा शिक्षक उसके बारे में सोचता है। उदाहरण के लिए, दस वर्ष के कुछ बच्चों ने अपने बारे में इस तरह के उत्तर दिए:

पहला छात्र:

– क्या तुम एक अच्छे छात्र हो?
– बहुत अच्छा नहीं।
– तुम्हें कैसे मालूम?
– मेरी शाला की रिपोर्ट... उनमें लिखा है कि मैं शोर मचाता हूं, अन्य छात्रों के साथ मिलता-जुलता नहीं हूं... मेरे बारे में यह बात कई बार लिखी गई है।

दूसरा छात्र :

तुम अच्छा काम करते हो?
– हां, काफी अच्छा!
– कैसे जानते हो?
– जब मेरा शिक्षक मेरा काम जांचता है तो 'अच्छा' और 'बहुत अच्छा' लिखता है।

तीसरा छात्र :

– तुम अच्छा काम करती हो?
– मालूम नहीं... हां!
– कैसे मालूम?
– मैं कोशिश करती हूं कि अच्छे अंक मिलें।

जहां केवल नफीस भाषा ही सभ्यता की सूचक है

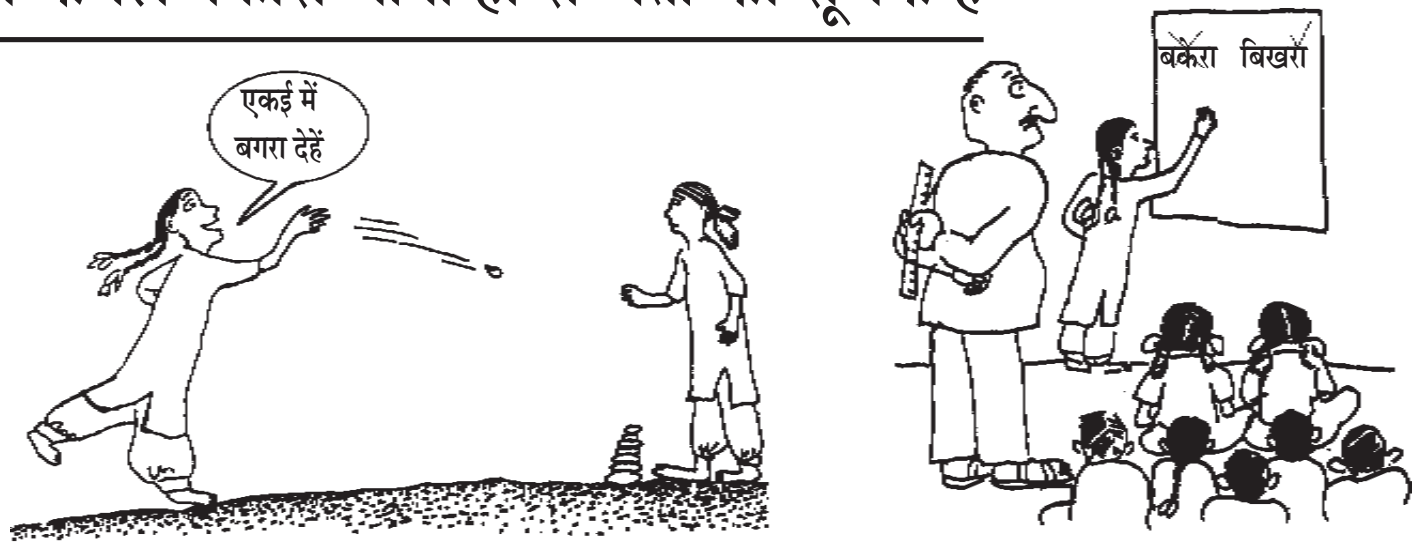

शुरू के वर्षों में, छात्रों को एक ऐसी भाषा सीखनी पड़ती है जो न तो उनकी होती है, न उनके मां-बाप की।

शुद्ध स्कूली भाषा को ही सभ्य माना जाता है।

बच्चे की स्वाभाविक बोली जहां भी इस सभ्य भाषा से अलग हो जाती है, उसे नोट किया जाता है, ठीक किया जाता है

और शिक्षक द्वारा इस गलती के लिए सज़ा दी जाती है। यह सब इस आशा में होता है कि धीरे-धीरे बच्चा स्कूल की भाषा सीख जाएगा।

लेकिन नतीज़ा उल्टा होता है। काफी बच्चे इस डर से कि उन्हें गलत बोलने के लिए टोका व ठोका जाएगा, चुप रहना ही बेहतर समझते हैं।

लिखने का काम भी उतना ही करते हैं जितनी की ज़रूरत है, ताकि कम-से-कम यातनाएं मिलें।

भाषा विशेषज्ञ व मनोवैज्ञानिक दोनों ही ऐसे पढ़ाने के तरीकों को कोसते हैं जिससे बच्चा यह महसूस करे कि उसकी स्वाभाविक शैली उससे छिन रही है।

इस प्रकार बच्चे की ऐसी बोली या भाषा को नष्ट करके, जो मानक भाषा से भिन्न है, यह निश्चित हो जाता है कि वह ज़िंदगी भर कभी भी ठीक से अभिव्यक्त न कर पाए। इसके बावजूद लोगों को आश्चर्य होता है कि यही बच्चे युवा होने पर अभिव्यक्ति में कमज़ोर हैं।

लेकिन इस तरह की हानि और भी गंभीर है, क्योंकि इसका असर अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। किसी भी समुदाय की बोली या भाषा उसकी संस्कृति का एक अहम हिस्सा होती है और उस बोली को गलत या पिछड़ी ठहराना एक तरह से उस पूरे समुदाय की पहचान व संस्कृति को धिक्कारना है।

जेब दिखाओ!
और.... और अंदर से !!
?!!!
?!!
??!!!
तुम कुछ छुपा रहे हो!
हा! हा! इन सब को बाहर करना होगा!
सपने
भावनाएं
इच्छाएं
राजनीति
जिज्ञासा
लड़कपन
वासनाएं
अगुआई
निजी अनुभव

... एक कांटों भरा रास्ता

स्कूली इम्तहात तो बंद ही कर देना चाहिए। लेकिन जब तक ऐसा करना संभव नहीं होता, तब तक इन इम्तहानों को न्यायपूर्ण तो बनाना ही होगा। कठिन प्रश्नों का स्तर, जीवन के अन्य पहलुओं से जुड़ी कठिनाइयों से ऊपर होने का कोई मतलब नहीं है। परीक्षा को अधिक कठिन बनाना एक तरह से एक बीमारी बन जाती है, बच्चों को फंसाने की। जैसे बच्चों के साथ जंग छेड़ना ही उसका उद्देश्य हो।

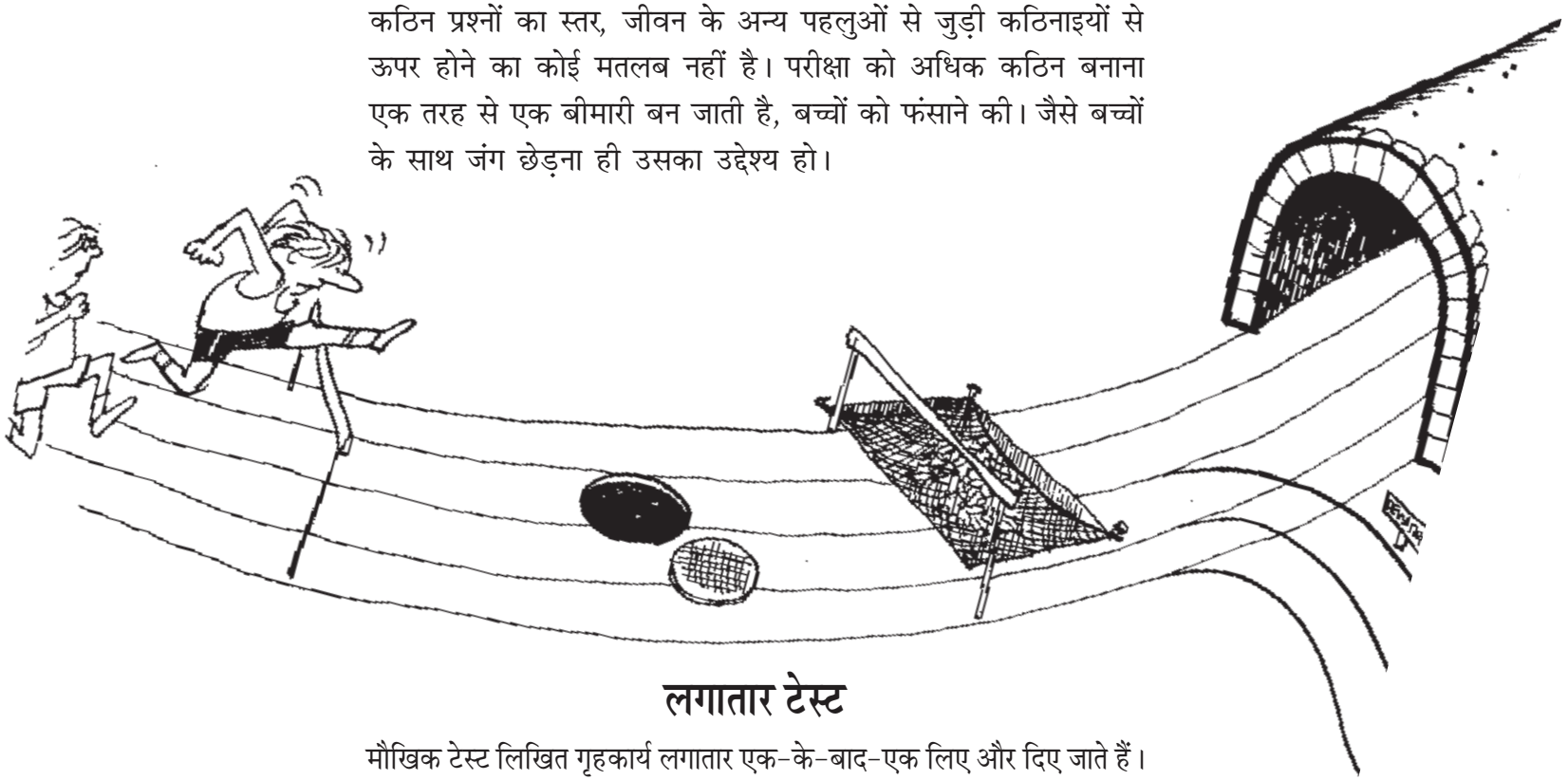

लगातार टेस्ट

मौखिक टेस्ट लिखित गृहकार्य लगातार एक-के-बाद-एक लिए और दिए जाते हैं। अधिकांश बच्चों के लिए यह एक लगातार तनाव और चिंता करने का विषय बन जाता है। और इस तनाव और चिंता को बढ़ाने में मां-बाप का भी हाथ रहता है, क्योंकि इन टेस्टों के नतीज़ों पर ही वे बच्चों को इनाम या सज़ा देते हैं।

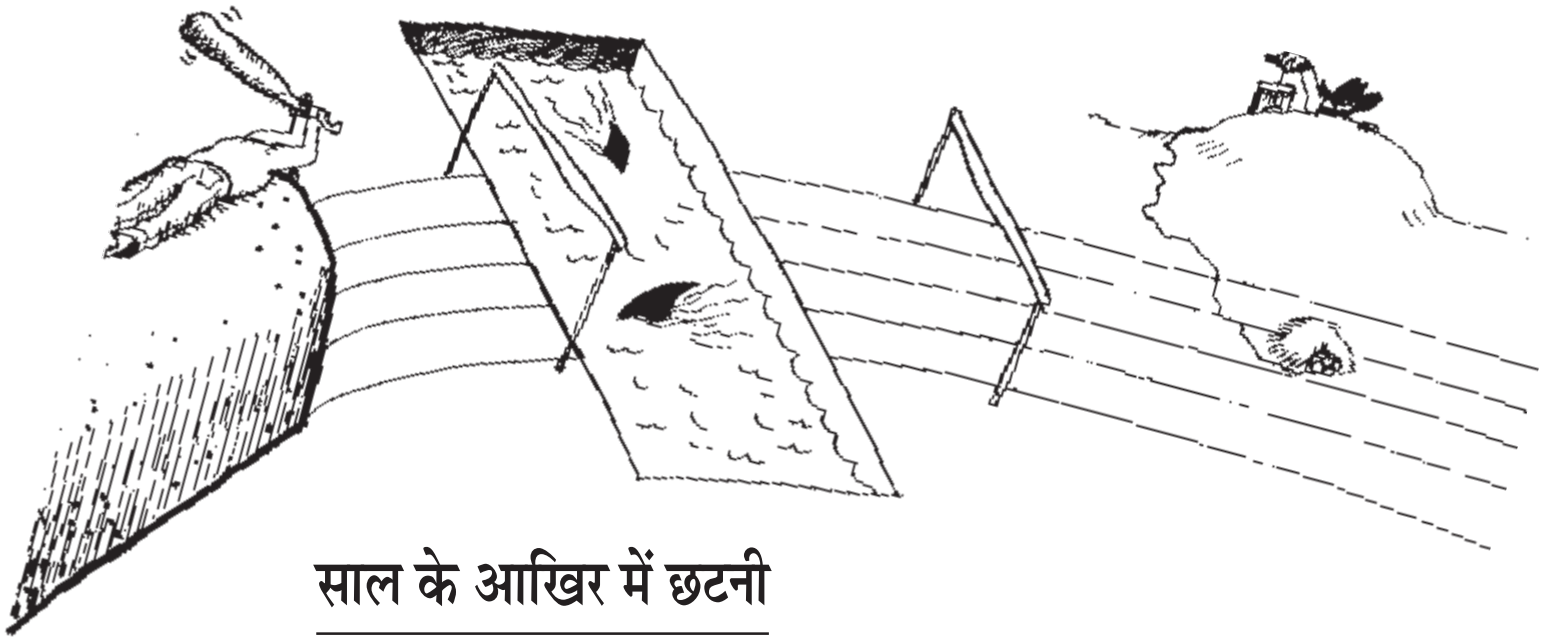

साल के आखिर में छटनी

ज्ञान-विज्ञान को सालाना राशन की तरह बांटने का तरीका इज़ाद कर दिया गया है।
हर स्तर पर निगलने के लिए इस राशन का एक नियमित डोज़ तय है।
यह सोचे बिना कि हरेक एक जैसी गति से नहीं सीखता है... !
केवल वे ही जिन्होंने ज्ञान के इस सालाना राशन को ठीक से निगला है,
अगली सीढ़ी चढ़ सकते हैं...

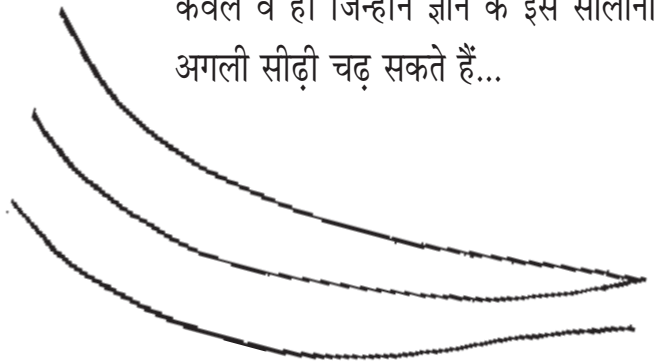

बाकी जो बचे ...
उन्हें दुबारा इम्तहान पर इम्तहान
देना होगा, जब तक वे स्कूल में रहेंगे!
और आखिरकार जब स्कूल छोड़ने की
उम्र आती है तो जो लगातार नाकामयाब
रहे हैं या पढ़ाई में पिछड़ गए हैं,
उन पर रिजेक्ट का ठप्पा लग जाता है।
और यह ठप्पा
उसका पूरा भविष्य तय कर देता है।

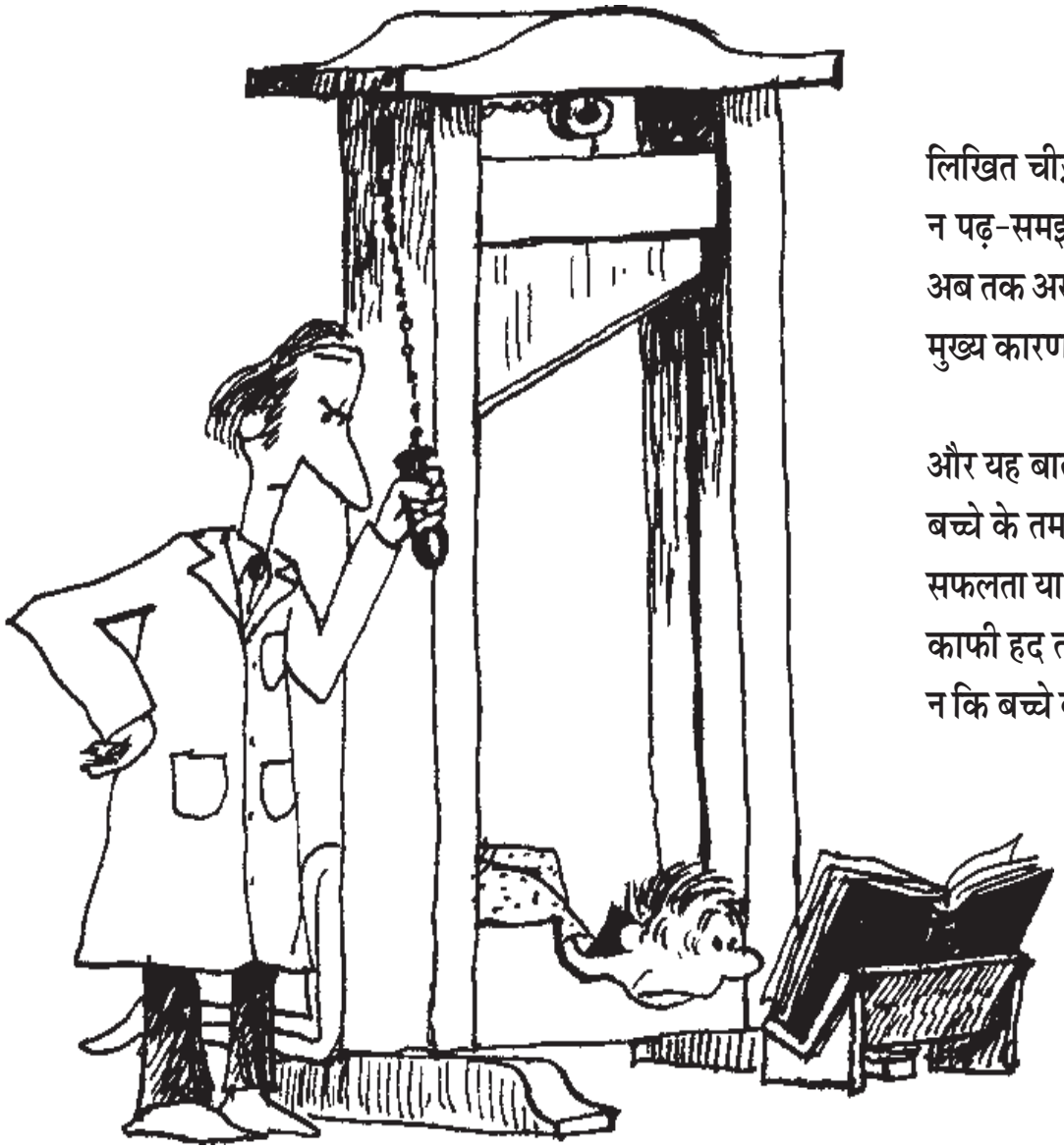

लिखित चीज़ों को ठीक से
न पढ़-समझ पाना ही
अब तक असफलता के एक
मुख्य कारण के रूप में सामने आया है।

और यह बात
बच्चे के तमाम स्कूल जीवन पर असर डालती है।
सफलता या असफलता का निर्णय भी
काफी हद तक केवल इसी चीज़ पर निर्भर है,
न कि बच्चे की समझ-बूझ पर!

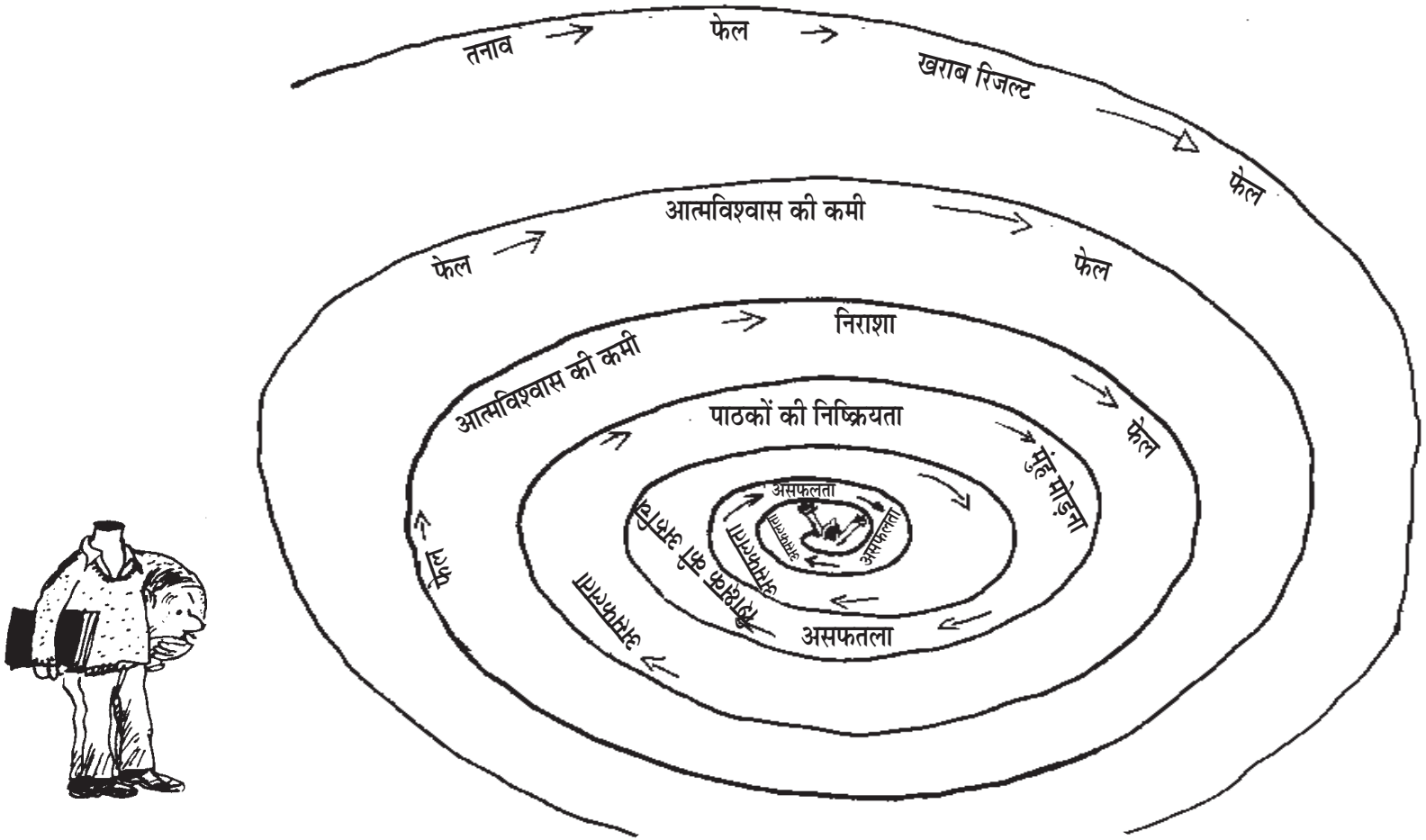

कक्षा में पढ़ाने वाले शिक्षकों पर किए गए एक सर्वे से पता चला कि छठवीं कक्षा में पहुंचते ही बच्चों की छंटाई शुरू हो जाती है। जो पढ़ाई में अच्छे होते हैं, उन्हें घर पर पढ़ने व प्रोजेक्ट पर काम करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यानी ऐसे बच्चों को स्कूली पुस्तक के अलावा कुछ और भी पढ़ने का हौसला दिया जाता है। ये 'अच्छे' बच्चे कहलाते हैं, जो इम्तहान ठीक-ठाक पास करते हैं। इससे यह परिभाषित होता है कि एक स्वतंत्र छात्रा, एक अच्छी छात्रा है, जो घर पर अकेले काम कर सकती है। लेकिन ऐसा समूह पूरी क्लास का लगभग एक-चौथाई ही होता है। बाकी सभी केवल ठीक से पढ़ पाने की कशमकश में ही फंसे रहते हैं। और आमतौर पर छठवीं कक्षा के शिक्षक इस तथ्य से वाकिफ भी नहीं रहते हैं। वे केवल यही कहते हैं...'ये बच्चे ठीक से काम नहीं करते हैं'।

विचित्र विषयों की दुनिया

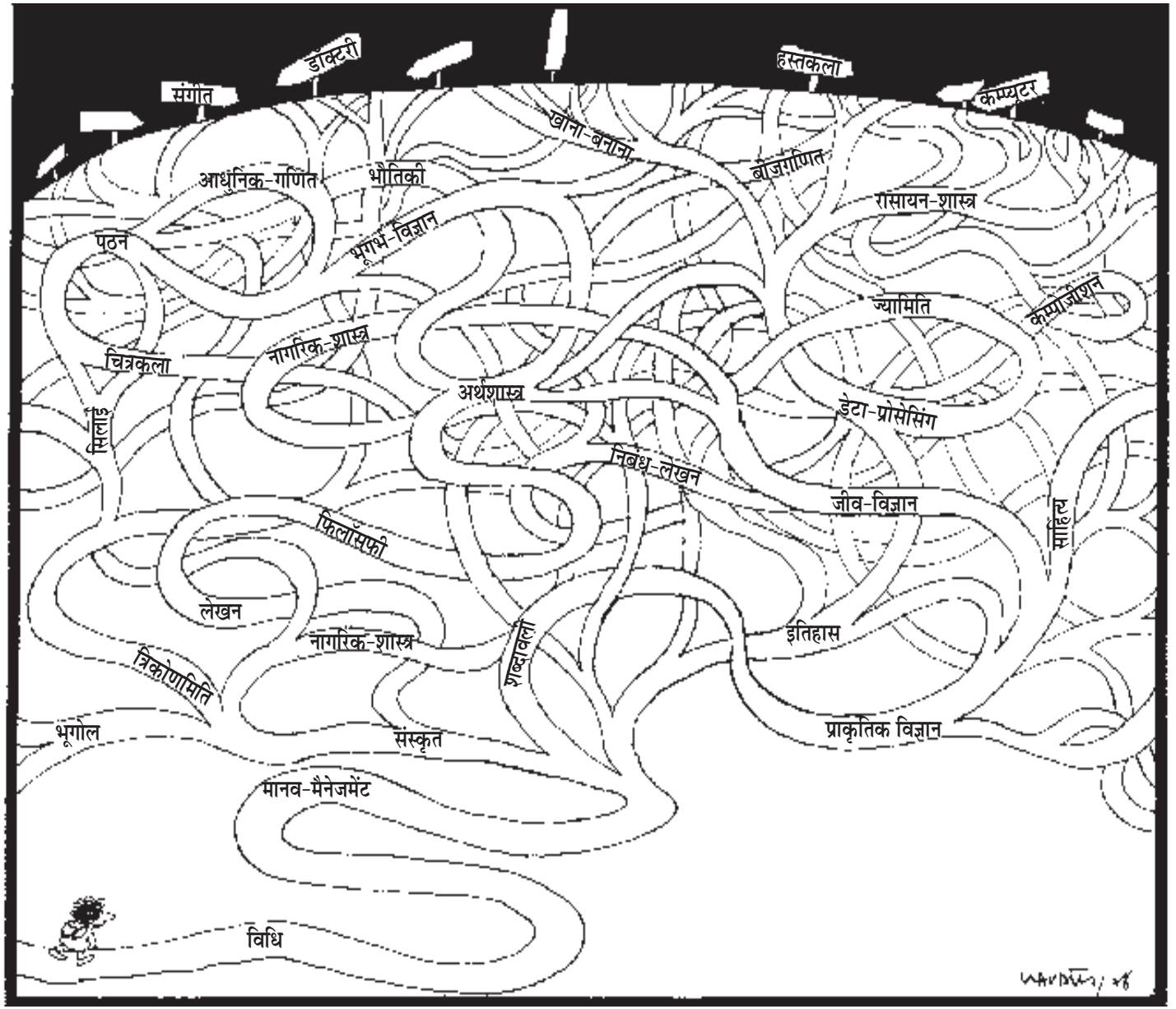

.. जो बच्चों की समझ से बाहर भी है और उसका तुरंत कोई फायदा भी नहीं दिखता!

लगातार करवाए जाने वाले कार्य का फायदा बच्चे स्वयं नहीं समझ पाते। वे यह कार्य या तो इसलिए करते रहते हैं कि आखिर 'स्कूल में ऐसे ही होता है' या फिर सज़ा मिलने के डर से।

और जब बच्चे कभी-कभी अपना विरोध कुछ
इस तरह व्यक्त करने की हिम्मत करते हैं—
'....व्याकरण बेकार है...'
'....गणित से क्या फायदा?...'

तो वयस्क, अभिभावक हों या शिक्षक,
इस जवाब के अलावा कुछ नहीं कह पाते हैं कि—
'....तुम्हें आगे इसकी उपयोगिता समझ में आएगी...'
'... जब तुम बड़े हो जाओगे तो अपने आप समझ जाओगे...'

..... असलियत से कटे हुए

स्कूल के बाहर होने वाली जीवन की विविधताओं से भरी घटनाओं से स्कूली बच्चे पूरी तरह अनभिज्ञ रहते हैं। पाठ्यक्रम में शुमार न होने के कारण शिक्षक इन घटनाओं को समझाने और इनमें बच्चों की दिलचस्पी जगाने का कोई प्रयास नहीं करते।

पाठ्यपुस्तकीय पढ़ाई का रोज़मर्रा की असलियत या व्यावहारिक ज़रूरतों से कोई संबंध नहीं दिखाई पड़ता। शायद ही ऐसी कोई कक्षा हो जिसमें लिखाई संवाद का माध्यम बनती हो या गणित वास्तविक समस्याओं को सुलझाने का साधन। इसलिए शिक्षा बेकार और उबाऊ लगने लगती है। ऊपर से स्कूल का बनावटी वातावरण तनाव भी पैदा करता है।

बच्चों को परिभाषाएं और फॉर्मूले रटाने के बजाए खेल-खेल में साधारण प्रयोगों द्वारा विज्ञान के मूल सिद्धांत सिखाने की एकाध अनुकरणीय कोशिशों को भी सरकार की ओर से काई खास प्रोत्साहन नहीं मिला है। मध्य प्रदेश मे एक ऐसी कोशिश हुई। खेतों में ले जाकर स्कूली बच्चों के मन में कृषि विज्ञान के बारे में उत्सुकता जगाई गई। बच्चों ने स्वयं किसानों से बात करके जाना कि रबी और खरीफ की फसलें क्या होती हैं, ज़मीन कितने प्रकार की होती है, खेती की क्या प्रणालियां हैं, उर्वरक के इस्तेमाल से क्या फायदे-नुकसान हैं। ऐसे माहौल में पनपी तर्कबुद्धि से इन बच्चों ने पिछले दिनों कुछ स्थानीय अंधविश्वासों को स्वयं ही चुनौती दी। लेकिन सार्थक शिक्षा का यह प्रयोग मुठ्ठी भर स्कूलों तक ही सीमित रह गया है।

एक तनाव-रहित सहयोगी माहौल में शिक्षा को व्यापक, उपयोगी और रोचक बनाना सरकार या सरकारी शिक्षाशास्त्रियों के एजेंडा पर केवल खानापूरी के लिए ही दिखाई पड़ता है।

...विषयों का बंटवारा और अहमियत पहले से ही तय है

सिखाने की प्रचलित प्रक्रिया में हर विषय के लिए एक डिब्बा तय है – व्याकरण का डिब्बा, भूगोल का डिब्बा, इतिहास का डिब्बा.. डिब्बे ही डिब्बे! जब स्कूल में ज़रूरत पड़ती है तो बच्चे इन डिब्बों को खोलते हैं। लेकिन स्कूल के बाहर इन डिब्बों की उपयोगिता लगभग शून्य है।

यही नहीं, इन डिब्बों को अहमियत के हिसाब से क्रमबद्ध किया गया है। यह अहमियत इससे झलकती है कि किस डिब्बे पर अधिक समय लगाया जाता है या किस डिब्बे को बच्चे के इम्तहान के लिए ज़रूरी समझा जाता है।

प्राथमिक शालाओं में भाषा को एक खास अहमियत दी जाती है। चित्र, संगीत व शरीर के भावों को गैर-ज़रूरी समझा जाता है। बौद्धिक गतिविधियों में सिर्फ जटिल सोच-विचार को तरजीह दी जाती है। प्रयोगात्मक व ज़मीन से जुड़े तरीकों द्वारा करके सीखने की प्रक्रिया कम ज़रूरी समझी जाती है।

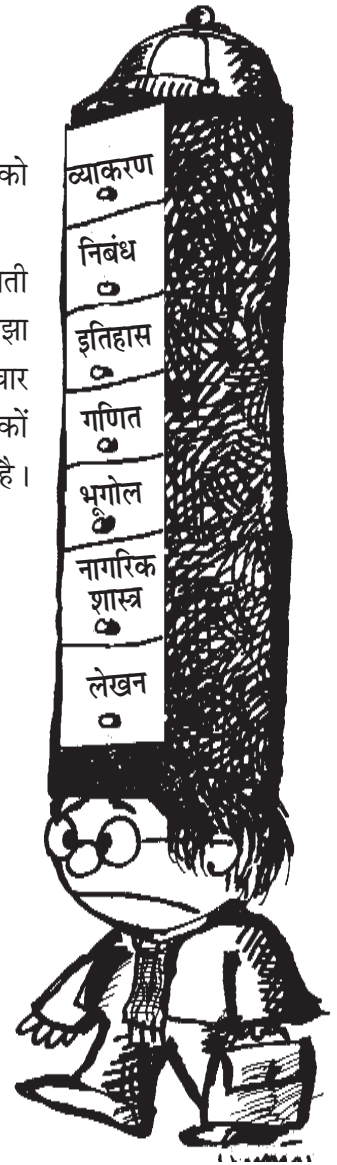

...अजीबो-गरीब बुज़ुर्गों से संचालित दुनिया

आखिर शिक्षक हैं क्या?

क्या यह बच्चों का भविष्य उज्जवल करने वाले शक्तिशाली प्रेरक हैं? या मात्र ऐसे पुर्ज़े जो सिर्फ एक संस्था को ज़िंदा रखने का काम करते हैं?

सच्चाई यह है कि शिक्षक खुद उसी तरह की जंज़ीरों और तनावों से जकड़े हुए हैं जिनमें वे बच्चों को जकड़ कर रखते हैं।

इन शिक्षकों को कितनी आज़ादी मिलती है?

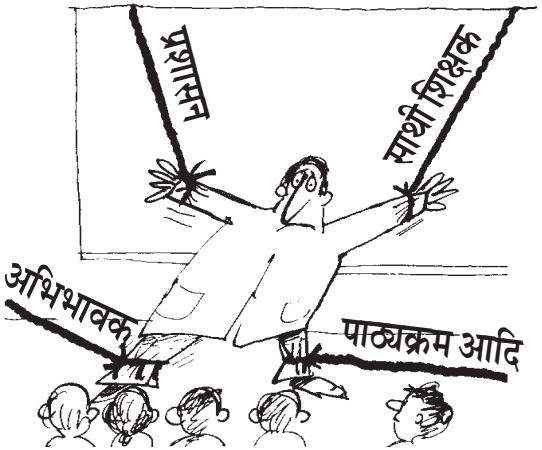

आमतौर पर शिक्षक प्रचलित
शैक्षणिक व्यवस्था को मानते हैं
और इस तरह से वे इस मशीन
के बहुत ही अहम पुर्ज़े हैं!

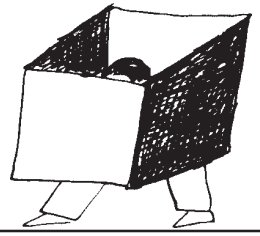

3 ... हैं!

जो शिक्षा व समाज को बांधने वाले सूत्र हैं और इस कारण
शैक्षणिक व सामाजिक उसूलों पर ज़्यादा असर डाल सकते
हैं। यह असर बदलाव को रोकने के लिए ही डाला जाता है।

सभी अभिभावकों के नियंत्रण से भी डर नहीं है।
डर उनसे है जो शक्तिशाली हैं, अखबारों में लिखते हैं
या भाषणबाजी करने में सक्षम हैं।

अभिभावक
जिन से डर

4 ... पाठ्यक्रम से

बेतुके व आतंक फैलाने वाले पाठ्यक्रम जिन्हें सब कोसते हैं
और जो शिक्षक को पढ़ाना ही है
... क्योंकि साल के अंत में उसी की परीक्षा है।

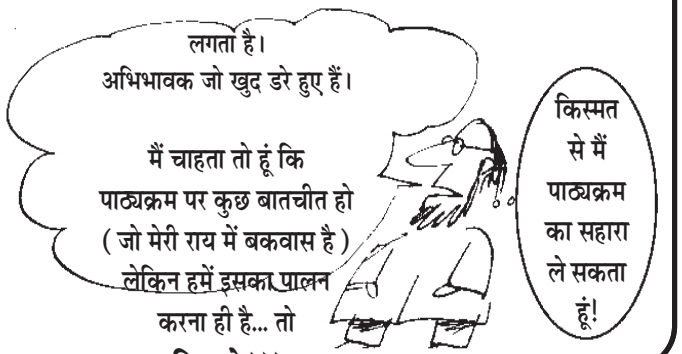

चूहों की कथा, बच्चों की व्यथा

अगर शिक्षक का
छात्र की सफलता में
पक्का विश्वास होगा तो
बच्चा अवश्य सफल होगा।
शिक्षक की
पक्षपातपूर्ण धारणाओं
और मान्यताओं का
बच्चों पर बेहद
असर पड़ता है।
अन्य शब्दों में
हम कह सकते हैं
कि अच्छे और बुरे छात्र,
शिक्षक ही
बनाता है।

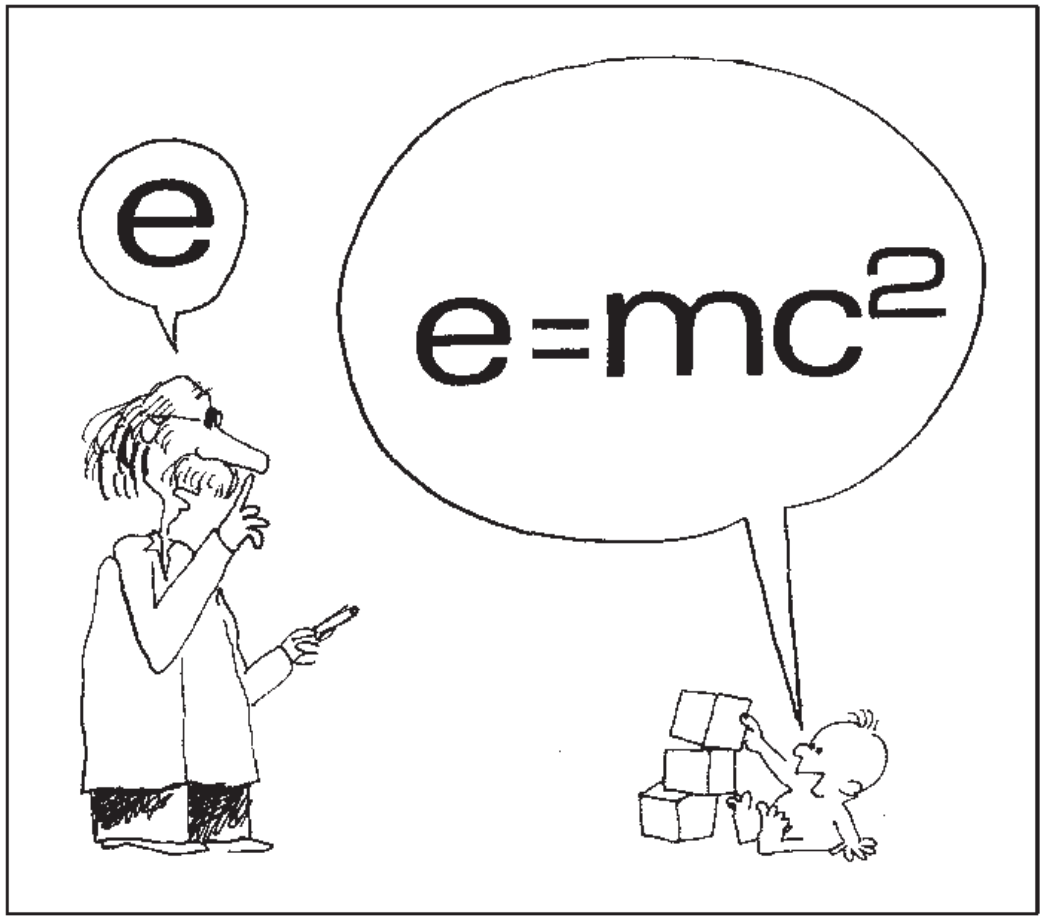

अमरीका में मनोविज्ञान के प्रोफेसर रॉबर्ट रोज़नथाल ने एक बार अपने छात्रों के दो समूहों को बुलाया। उन्होंने प्रत्येक समूह को तीस चूहे दिए और साथ में एक भूल-भुलैया वाली पहेली भी दी। उन्होंने छात्रों से कहा कि वह कुछ हफ्तों में चूहों को भूल-भुलैया में से बाहर निकलना सिखाएं। जाते वक्त उन्होंने एक समूह के कान में कहा कि उनको दिए गए चूहों का दिशा ज्ञान अच्छी तरह विकसित है। दूसरे समूह से उन्होंने चुपचाप कहा कि अनुवांशिक कारणों से उन्हें दिए गए चूहों से सफलता की ज़्यादा उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

असल में यह अंतर केवल छात्रों के दिमाग में था, क्योंकि सभी चूहे हर लिहाज़ में एक-जैसे थे। ट्रेनिंग की अवधि समाप्त होने पर प्रोफेसर ने पाया कि 'अच्छे करार' चूहों ने वास्तव में बहुत अच्छा किया और 'खराब करार' चूहे तो अपनी जगह से हिले तक नहीं।

इन नतीज़ों से प्रेरित होकर रोज़नथाल ने इसी प्रयोग को एक स्कूल में करने की ठानी। मई 1964 में रोज़नथाल और उसकी टीम दक्षिण सैनफ्रांसिसको के एक प्राथमिक स्कूल में गई। यह गरीब इलाका था, जहां कम मज़दूरी मिलती थी। यहां पर मैक्सिको, प्यूर्टो-रिको आदि देशों से आए लोग सरकारी अनुदान पर अपनी आजीविका चलाते थे। स्कूल में अधिकांश गरीब बच्चे थे।

शोध टीम ने स्कूल के टीचरों से साफ झूठ बोला। उन्होंने कहा कि वे हावर्ड विश्वविद्यालय से आए हैं और यह शोध वे नेशनल साइंस फाउंडेशन के लिए कर रहे हैं। इतने बड़े-बड़े नाम सुनकर शिक्षकों ने स्कूल के दरवाज़े उनके लिए खोल दिए। उन बच्चों का पता लगाने के लिए, जिनमें आगे बढ़ने की अद्‌भुत क्षमता थी, छात्रों को एक नए ढंग का टेस्ट दिया गया।

वास्तव में यह सब झूठ था। बच्चों की मानसिक क्षमता नापने के लिए उनको एक साधारण आई क्यू टेस्ट दिया गया। फिर हरेक कक्षा के 20 प्रतिशत बच्चों को बिना किसी मापदंड के, लॉटरी के आधार पर चुना गया। 'हावर्ड के शोध पर आधारित नतीज़ों में अगर आपकी रुचि हो तो ..... ।' शिक्षकों का इस प्रकार मानस बना देने के बाद शोध टीम आगे के हाल का इंतज़ार करती रही। चार महीने के बाद एक और टेस्ट, दूसरा एक साल बाद और अंतिम टेस्ट दो साल बाद दिया गया।

इन टेस्टों के नतीज़ों को देखकर रोज़नथाल और उनकी टीम एकदम आश्चर्य में रह गई। जो बच्चे कृत्रिम रूप से, अच्छा करने योग्य समझे गए थे, उन्होंने अन्य बच्चों की तुलना में कहीं अधिक तेज़ी से प्रगति की थी! दर्जनों में से अगर आप केवल दो ही उदाहरण लें। जोज़ नाम के मैक्सिकन बालक की 'प्रतिभाशाली' करार दिए जाने से पहले आई क्यू केवल 61 थी। एक साल बाद उसकी आई क्यू 106 हो गई थी। साल भर पहले जो बच्चा पिछड़ा हुआ था, वह एक कृत्रिम नया लेबल लग जाने मात्र से वाकई में मेधावी और गुणी बन गया था। मारिया नाम की एक मैक्सिकन लड़की में भी इसी तरह का अभूतपूर्व परिवर्तन आया। उसकी आई क्यू 88 से बढ़कर 128 हो गई। इन रोचक मिसालों के बारे में शिक्षकों का कहना था कि इन बच्चों में 'उत्सुकता', 'मौलिकता' और 'परिस्थितियों के अनुसार ढलने' की क्षमता थी।

जो बच्चे तेज़ी से आगे बढ़े उन सबकी प्रगति एक-जैसी नहीं थी। सबसे ऊंची प्रगति की छलांग सबसे छोटी आयु के बच्चों में पाई गई। इसका कारण शायद यह था, कि छोटे बच्चे अपने शिक्षकों से सबसे अधिक प्रभावित थे।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि शिक्षक की पक्षपातपूर्ण धारणाओं और मान्यताओं का बच्चों पर बेहद असर पड़ता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि अच्छे और बुरे छात्र, शिक्षक ही बनाता है। टीम ने पाया कि 'अच्छे करार' बच्चों के साथ शिक्षक ने ज़्यादा बातचीत की, और शायद यही बच्चों की प्रगति का राज़ था। परंतु अंत में टीम को इस मान्यता को नकारना पड़ा। बाकी टेस्टों से पता चला कि इन बच्चों ने न केवल भाषा में परंतु तार्किक बुद्धि में भी प्रवीणता हासिल की थी। एक कृत्रिम लेबल ने 'पिछड़े' बच्चों को 'होशियार' बना दिया था।

इसका सार यही है कि अगर शिक्षक का छात्र की सफलता में पक्का विश्वास होगा तो बच्चा अवश्य सफल होगा। शिक्षा में शायद यह सबसे सस्ता सुधार होगा। परंतु इसे लागू करना उतना ही मुश्किल काम होगा।

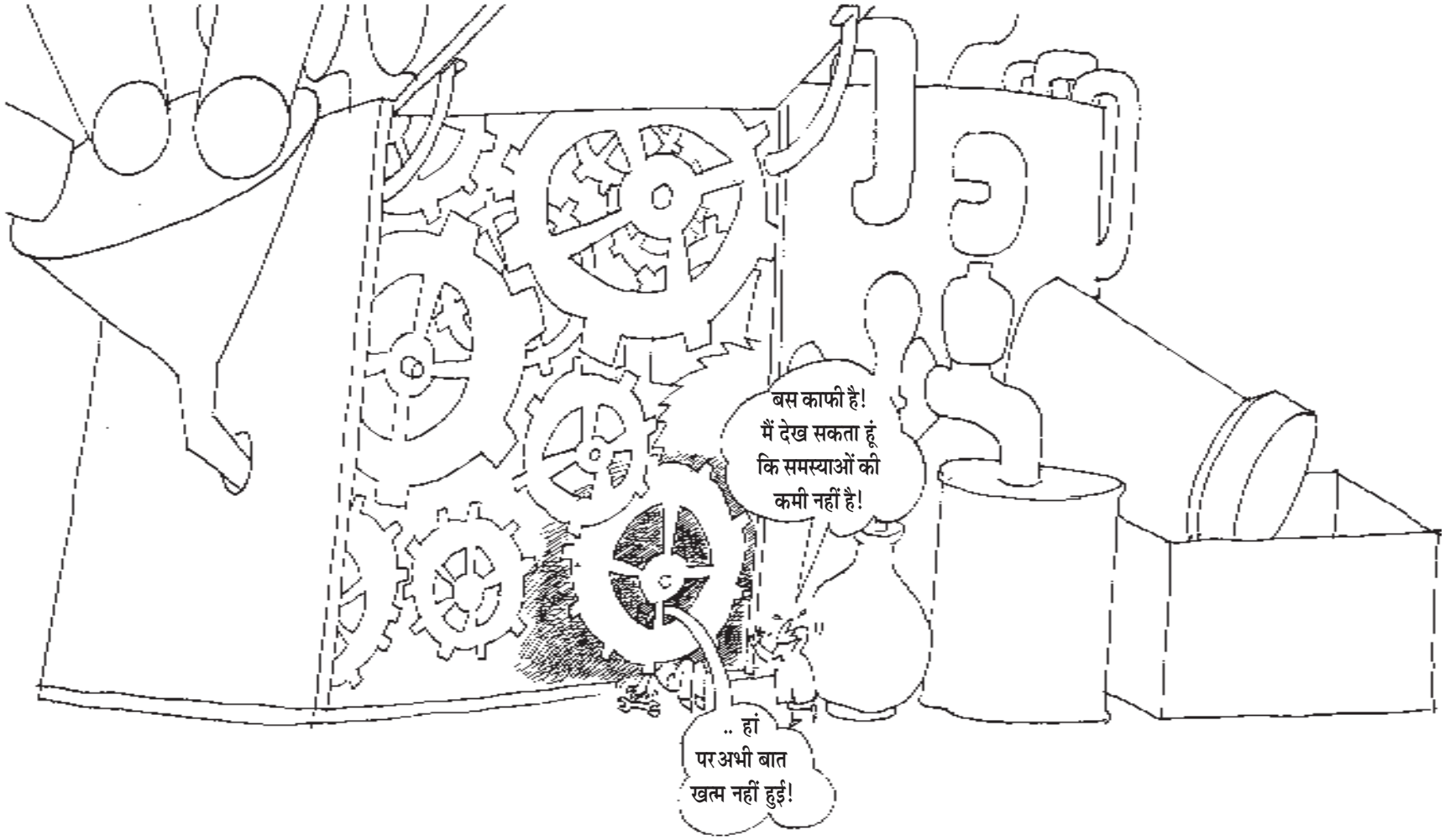
बस काफी है!
मैं देख सकता हूं
कि समस्याओं की
कमी नहीं है!
.. हां
पर अभी बात
खत्म नहीं हुई!

यह बात तो तुम मानते ही होगे कि इस तरह की समस्याएं सभी पर लागू हैं इसलिए जो सफल होकर निकलते हैं इस बात को ज़ाहिर करते हैं कि वह ज़्यादा अकलमंद हैं, जबकि बाकी जिनकी अकल कुछ कम है या जिनकी मनोवैज्ञानिक समस्याएं हैं...
अ, हां... इतनी जल्दबाजी नहीं! मानता हूं कि व्यक्तिगत फर्क का कुछ असर होता है, लेकिन इस फर्क से ही सब कुछ नहीं समझा जा सकता! नहीं तो हम फिर शुरुआत पर पहुंचेंगे...कि संपन्न परिवारों के बच्चे अधिक अकलमंद होते हैं, कामयाब होते हैं... नहीं मेरे भाई मामला इससे कुछ . ज्यादा ही पेचीदा है!
लेकिन यह बात सही है या नहीं कि स्कूल में सबके साथ एक जैसा ही बर्ताव होता है?
यही तो मामले की जड़ है! एक संपन्न घराने व एक गरीब घराने के बच्चे में ढेर सारे अंतर हैं...!
बच्चे यह अंतर मानो अपने झोले में भरकर स्कूल ले आते हैं। इस हालत में एक-समान बर्ताव, इस फर्क को बरकरार रखने का काम करता है। यही नहीं, इस फर्क को बढ़ाता है।
यह शुरुआती फर्क फिर क्या है?

स्कूल सामाजिक व सांस्कृतिक अंतरों को नज़रअंदाज़ करता है

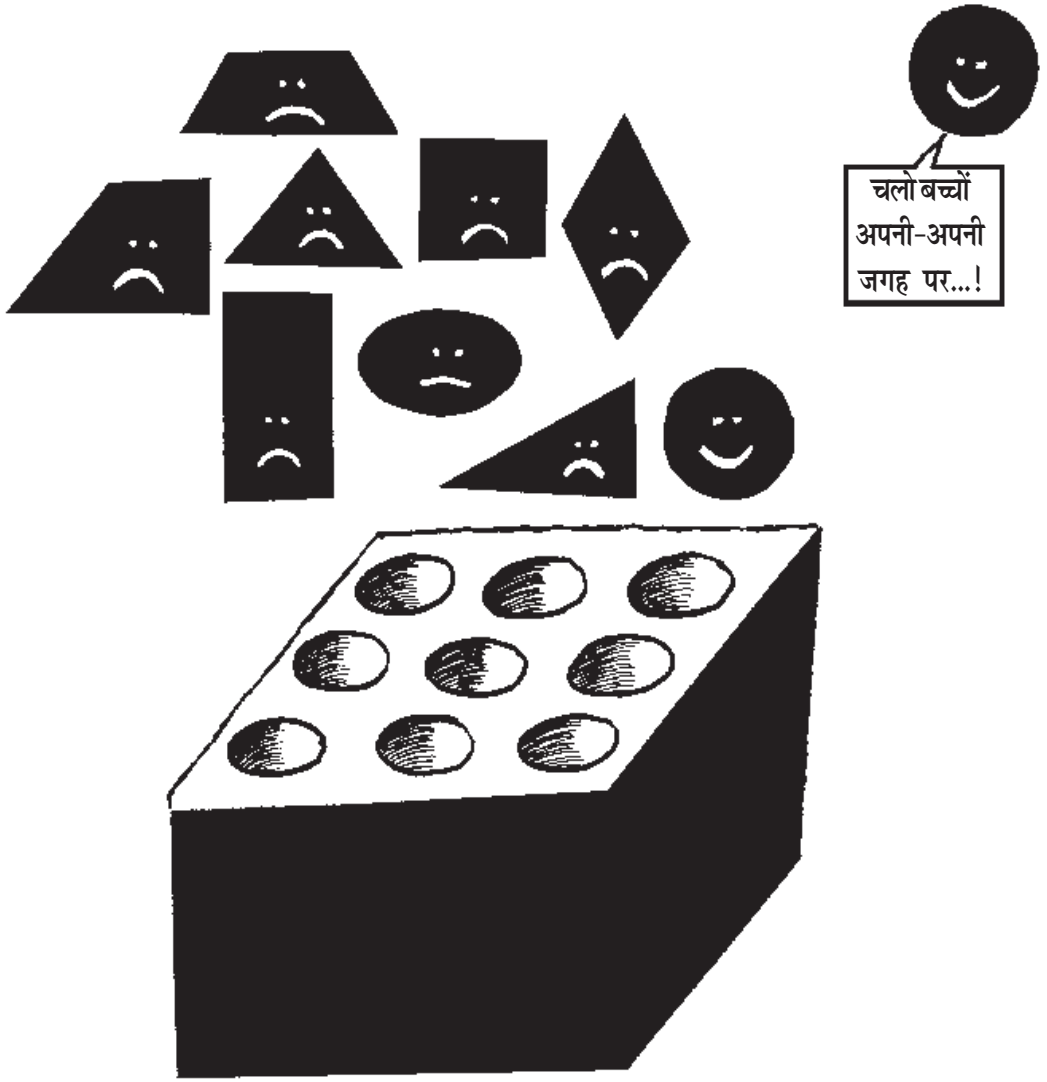

1. रहन-सहन के फर्क

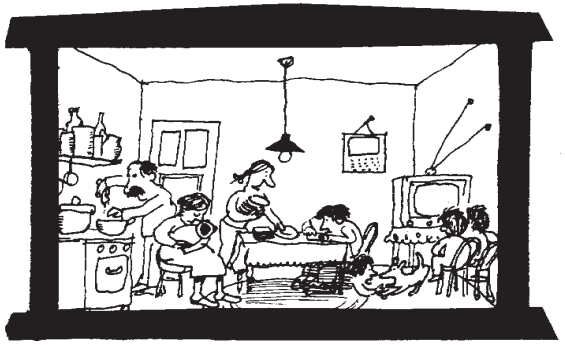

यह सब समझते हैं कि घर की हालत, रहने की जगह, आसपास के लोग और वह समय जो अभिभावक बच्चों की पढ़ाई में लगाते हैं - सब बच्चों की सफलता के अहम अंग हैं। खासकर ऐसे मौकों पर जब बच्चों को विभिन्न रास्तों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता है, घर की माली हालत निर्णायक बन सकती है।

2. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अंतर

3. स्कूल के बाहर की ज़िंदगी के अनुभव

बच्चों व नौजवानों की ज़िंदगी का एक अहम पहलू वे अनुभव हैं जो वे स्कूल से बाहर हासिल करते हैं।

लेकिन अलग-अलग वर्गों के बच्चों के यह अनुभव भी अलग होते हैं। और आमतौर पर संपन्न वर्ग के बच्चों के अनुभव स्कूली शिक्षा के अनुरूप ही होते हैं और इस वज़ह से उनकी शिक्षा में इनका योगदान रहता है।

पाठ्यपुस्तकों के अलावा अन्य पत्र-पत्रिकाएं, देश-विदेश का साहित्य आदि पढ़ना, सैर सपाटा, नाटक, पेंटिंग, संगीत से संपर्क व सामाजिक वर्ग के अनुरूप टी. वी. के कार्यक्रम - ये सब स्कूल में सफलता दिलाने में सहायक बनते हैं। इन अनुभवों के विपरीत श्रमिकों या किसानों के बच्चों के अनुभवों का स्कूली शिक्षा से कोई लेना-देना नहीं होता, चाहे वे इन सब अनुभवों जैसे ही महत्वपूर्ण क्यों न हों!

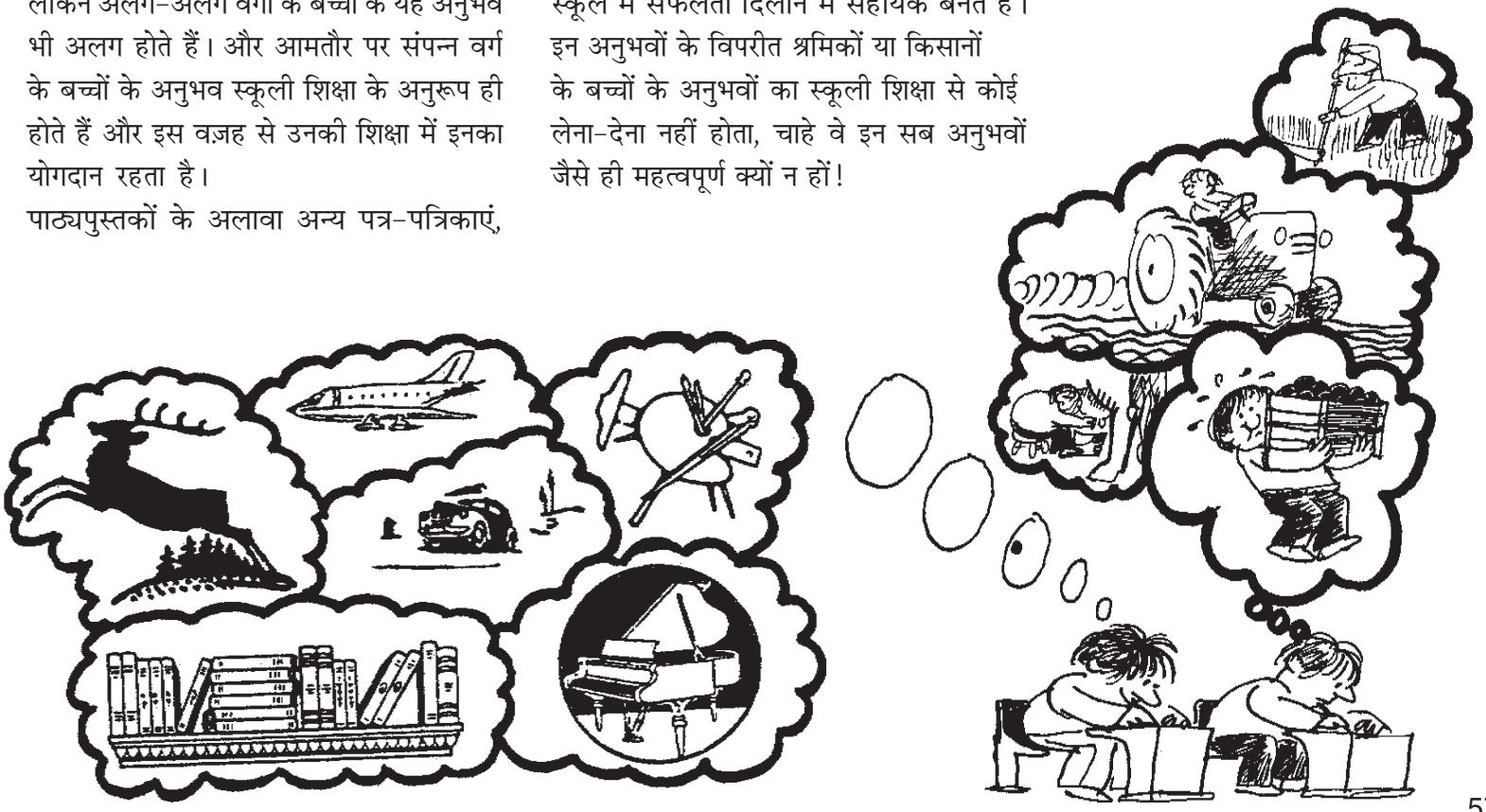

4. स्कूल के प्रति अभिभावकों के नज़रिए में फर्क

शिक्षित अभिभावक स्कूली व्यवस्था से परिचत रहते हैं। भारतीय स्कूलों में भर्ती होने वाले बच्चों का एक बड़ा हिस्सा ऐसे परिवारों से आता है जिन्होंने पहले कभी स्कूल का मुंह नहीं देखा, यानी उनके अभिभावक कभी स्कूल नहीं गए और इसी वजह से स्कूली व्यवस्था से उनका कोई सीधा परिचय है ही नहीं।

शिक्षित अभिभावकों की अपने बच्चों से अपेक्षाएं भी अधिक हैं – मसलन, डॉक्टर, इंजीनियर या ऐसे ही किसी अन्य व्यवसाय के काबिल बनाना। अगर उनके बच्चे पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं तो वे हर कोशिश – शिक्षकों से बातचीत, घर में मदद, ट्यूशन और अगर ज़रूरी हुआ तो दूसरे किसी अच्छे स्कूल में तबादला – करते हैं इस स्थिति को सुधारने की।

यह सही है कि गरीब अशिक्षित अभिभावक स्कूल को सामाजिक प्रगति का एक साधन समझते हैं लेकिन आमतौर पर वे अपने बच्चों की शिक्षा में इतनी दिलचस्पी नहीं रख पाते हैं। इसलिए वह अपने आपको स्कूली निर्णयों पर कोई सवाल उठाने के काबिल ही नहीं समझते। इसी कारण वे अपने बच्चों की असफलाएं आसानी से स्वीकार भी कर लेते हैं।

इटली की एक उच्चतर माध्यमिक पाठशाला के प्राचार्य ने बच्चों को एक पत्र में लिखा: ''हमारा संविधान सभी के लिए बराबर मानसिक विकास या एक सी शैक्षिणक रूचि की गारंटी नहीं दे सकता है''।

लेकिन क्या वह यही बात कभी अपने बेटे के बारे में कहेगा? क्या वह उसे स्कूल पूरा करने के लिए बाध्य नहीं करेगा? संपन्न बच्चे भी पढ़ाई में कमज़ोर व आवारा हो सकते हैं लेकिन उनके अभिभावक उन्हें समस्याओं तथा परेशानी से बाहर निकाल ही लेते है।

तो अगर मैंने सही समझा,
कुछ बच्चे बदकिस्मत होते हैं -
अपर्याप्त घरेलू साधन, कमज़ोर संस्कृति व बोलचाल
में कमज़ोर होने के कारण। क्या यह सामान्य बात है
कि वे स्कूल में असफल हों?
नहीं दोस्त,
तुमने ठीक नहीं समझा है।
तुम्हारा कहना है कि गरीबों के
बच्चों का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य
कमज़ोर है व उनकी अकल व
बोलचाल अन्य बच्चों की तुलना में
कम या घटिया है।
पहले तुमने उनकी असफलता का कारण उनकी व्यक्तिगत कमज़ोरियों को बताया था -
जैसे मंदबुद्धि, मनोवैज्ञानिक समस्याएं, नैतिकता में कमी वगैरह-वगैरह।
और अब तुम अपनी इसी समझ को उनके वर्ग में ट्रांसफर कर रहो हो - यानी तुम्हारा कहना है कि
असफलता के कारण उनके सामाजिक वर्ग में ही निहित रहते हैं -
बोलचाल में कमज़ोरी, जटिल सोच-विचार का अभाव और न जाने क्या-क्या?

दोनों तर्कों में, असफलता की ज़िम्मेदारी या तो बच्चे की है या परिवार की! तुम्हारे लिहाज़ से इसमें स्कूल या समाज का कोई लेना-देना नहीं है!

ये तर्क मुख्य बात को नज़रअंदाज़ करते हैं। वह यह है कि चूंकि स्कूल केवल एक ही प्रकार की संस्कृति थोपता है, इससे वे बच्चे जिनकी संस्कृति कुछ अलग है, औरों से पिछड़ जाते हैं!

कमज़ोरी केवल एक ही कारण से है — एक थोपी हुई हावी संस्कृति के कारण!

... यंत्रों के अलावा कुछ और भी है।
स्कूल में केवल ज्ञान ही हासिल नहीं होता है।
व्यावहारिकता, मूल्य व सामाजिक मापदंड
- यह सब भी हासिल होते हैं!
शुक्र है...
आर्डर, समय पर काम,
सफाई अनुशासन, बात मानना, दोस्ती —
यही सब तो प्राथमिक शाला बच्चों को
सिखाती है! यह सब गलत है क्या!?
यह सब
तो तथाकथित
मूल्य हैं!
लेकिन कुछ और भी हैं,
जो दिन-प्रतिदिन व साल-दर-साल
खास तरह की पढ़ाई के तरीकों से
प्रचलित होते रहते हैं।
मिसाल
के लिए?

1. निजी स्वार्थ व कम्पटिशन की भावना

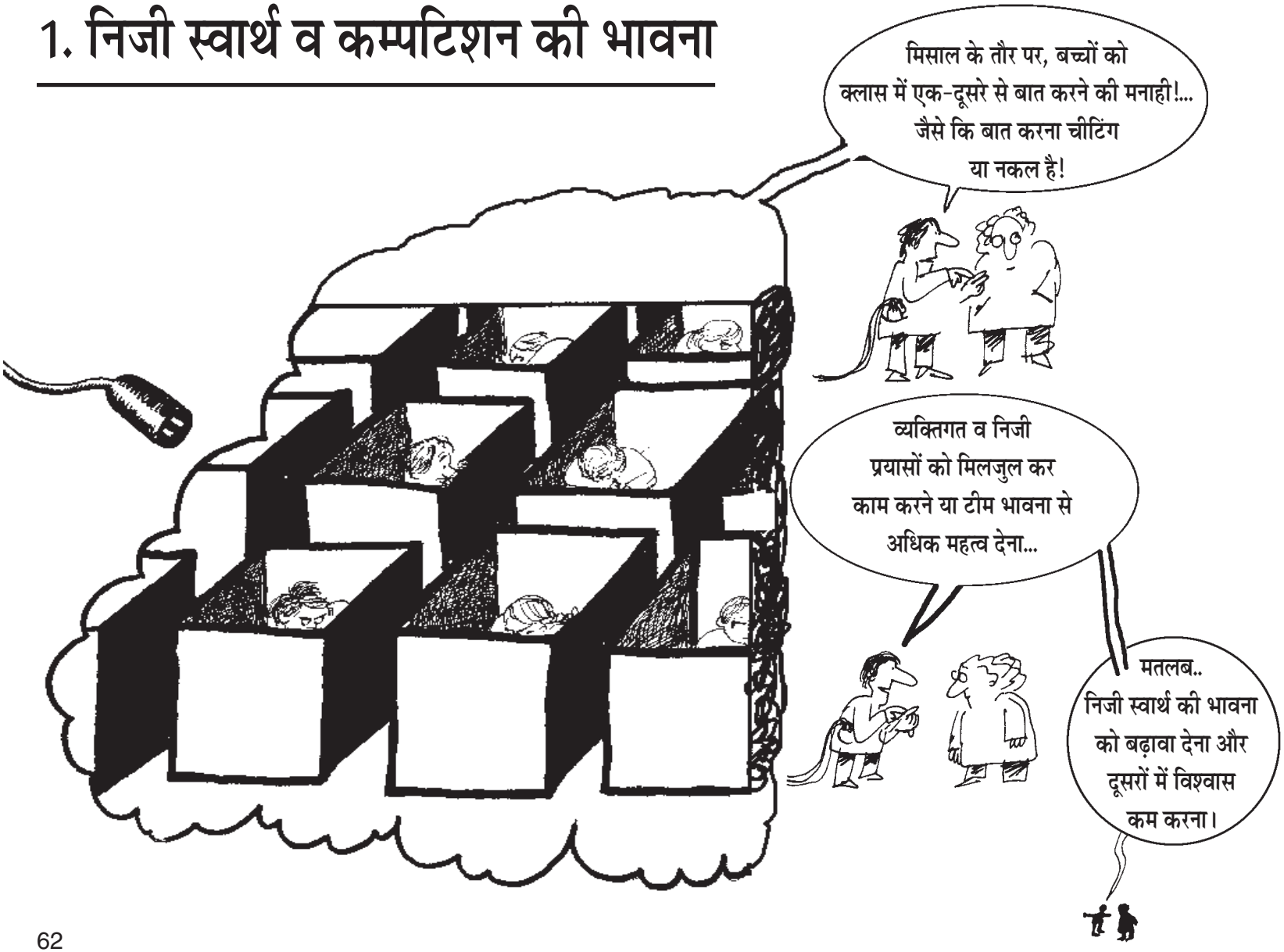

2. अपने आप में कमी महसूस करना

3. रोब और आदेशों का चुपचाप पालन करना

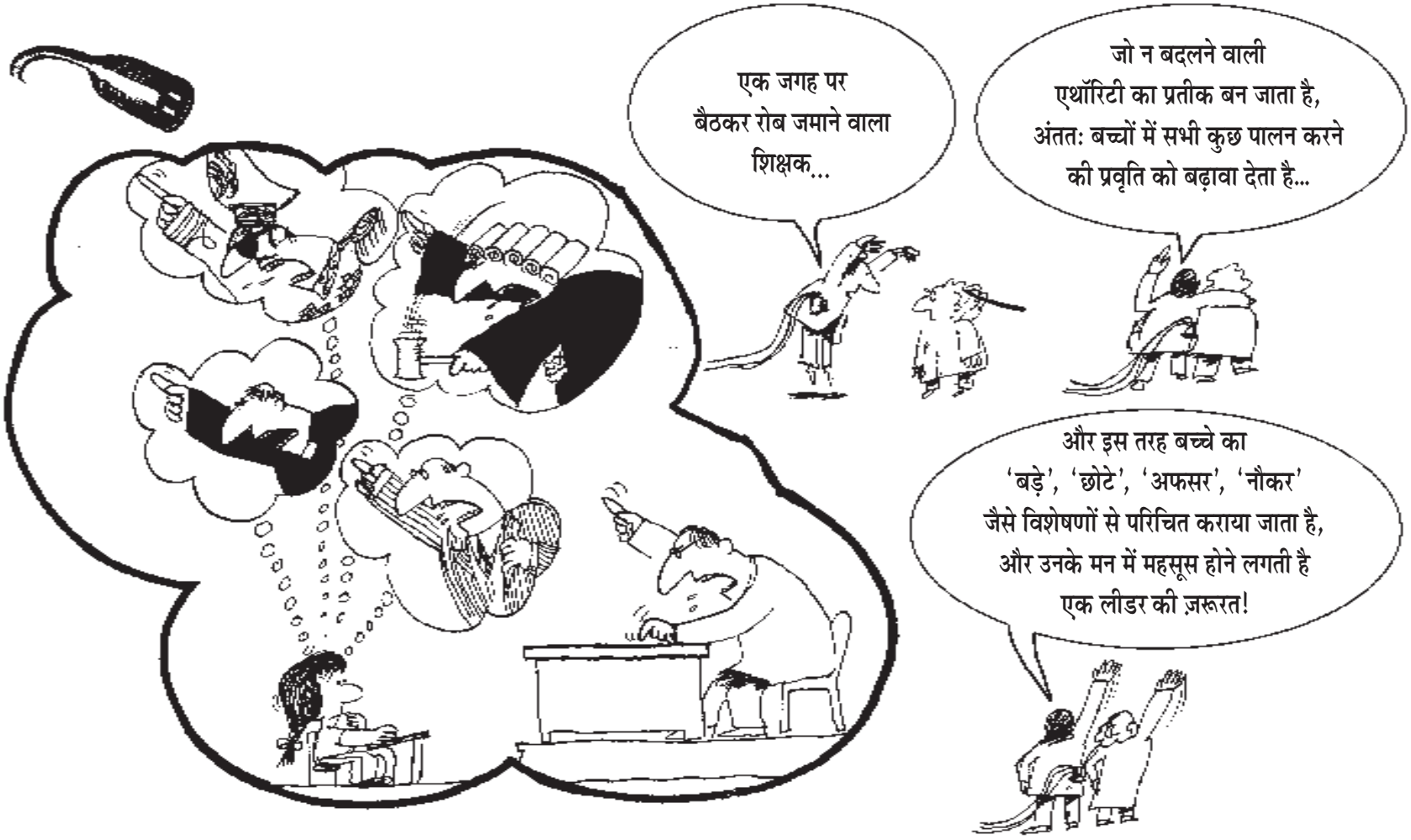

4. विरोधाभास से घबरा जाना

देखा.. यह सब अच्छी तरह से छिपा हुआ था... फिर भी...
अच्छा मुझे देखने दो
बाबा रे! इससे तो बहुत दर्द हो सकता है...
जी हां, इससे ज़रूर पीड़ा हो सकती है।
यह कल्पना व सृजनशक्ति को दबा सकता है, बंटवारा कर सकता है...
अकेलापन उपजा सकता है और खासकर निर्भरता पैदा कर सकता है...

स्कूल तो अपनी भाषा ही हमें ठीक से नहीं पढ़ाता है। अन्य भाषाओं की तो क्या बात करें! स्कूल न तो हमें गाना सिखाता है और न अपने हाथ-पांव का सही इस्तेमाल! न वह स्वास्थ्य पोषण के बारे में कुछ बताता है और न ही वह तरीका जो हमें सफलतापूर्वक संस्थाओं के जंगल में सही रास्ता बताए। एक मरीज़ या शिशु की देखभाल के बारे में स्कूल कुछ नहीं बताता!

अगर अधिकांश लोग खुद गाना-बजाना नहीं जानते हैं तो लाखों रिकार्ड व कैसेट खरीदते हैं। अगर उन्हें संतुलित भोजन के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है तो डाक्टरों व दवा कम्पनियों को पैसा देते हैं। अगर उन्हें अपने रेडियो या नल को सुधारना नहीं आता है या एक मामूली मोच या जुकाम को बिना दवाई ठीक करना नहीं आता...

यह इसलिए है कि
स्कूल का एक अस्वीकृत
मिशन यह बन गया है कि
वह कामगार और
ग्राहक पैदा करे...
या सरकार के
विभिन्न कामों
(वाणिज्य, उद्योग आदि)
के लिए नौकर पैदा करे।

तो ..
इसका मतलब यह है
कि जिस स्कूल से उम्मीद थी कि
वह सबको बराबर-बराबर मौका
प्रदान करेगा, वास्तव में वो उस
गैर-बराबरी को बरकरार रखता है
जो सामाजिक वर्गों में है?
जिस स्कूल से
हमें उम्मीद थी कि वह उद्धार करेगा और
मुक्ति दिलाएगा वह तो वास्तव में
निर्भरता को ही बढ़ा रहा है!

छात्र	अभिभावक	शिक्षक
क्या उनको यह अधिकार है कि वे कोई परिवर्तन ला सकें?	क्या वे इस डर से चुप नहीं हैं कि अगर उसी व्यवस्था को ललकारेंगे जो उनके बच्चों को डिग्री प्रदान करती है तो उनके बच्चों का क्या होगा? जो इस व्यवस्था से सबसे कम फायदा उठाते हैं - किसान व मज़दूर वर्ग और जिनसे प्रतिक्रिया की अधिक उम्मीद होनी चाहिए, क्या वे सतही तर्क के शिकार नहीं है जो 'समझदार' लोग उन्हें देते हैं कि तुम लोगों के बच्चे आलसी हैं, कम बुद्धि के हैं वगैरह-वगैरह? और उनमें से जो इक्का-दुक्का सफलता पा भी लेते हैं क्या उनके सामने आंकड़ों को एक खास ढंग से पेश करके और यह कहकर कि देखो शिक्षा तुम्हारे वर्ग को कितना आगे बढ़ा रही है, बेवकूफ नहीं बनाया जाता?	क्या उनके पास व्यवस्था को स्वीकार लेने या इस्तीफा देने के अलावा कोई और विकल्प है?

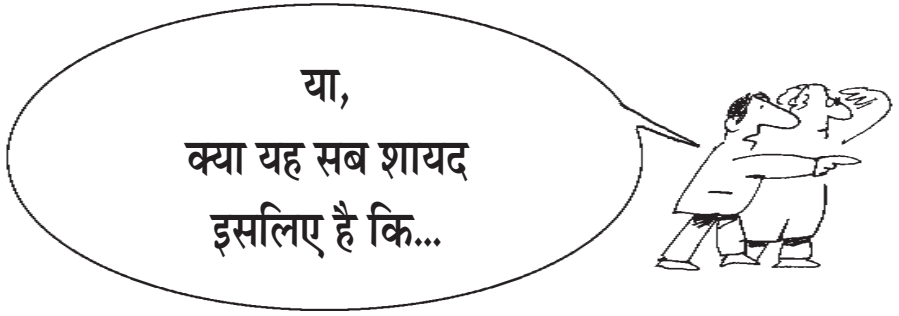

स्कूल अपने आप में सामाजिक तंत्र का पुर्ज़ा है

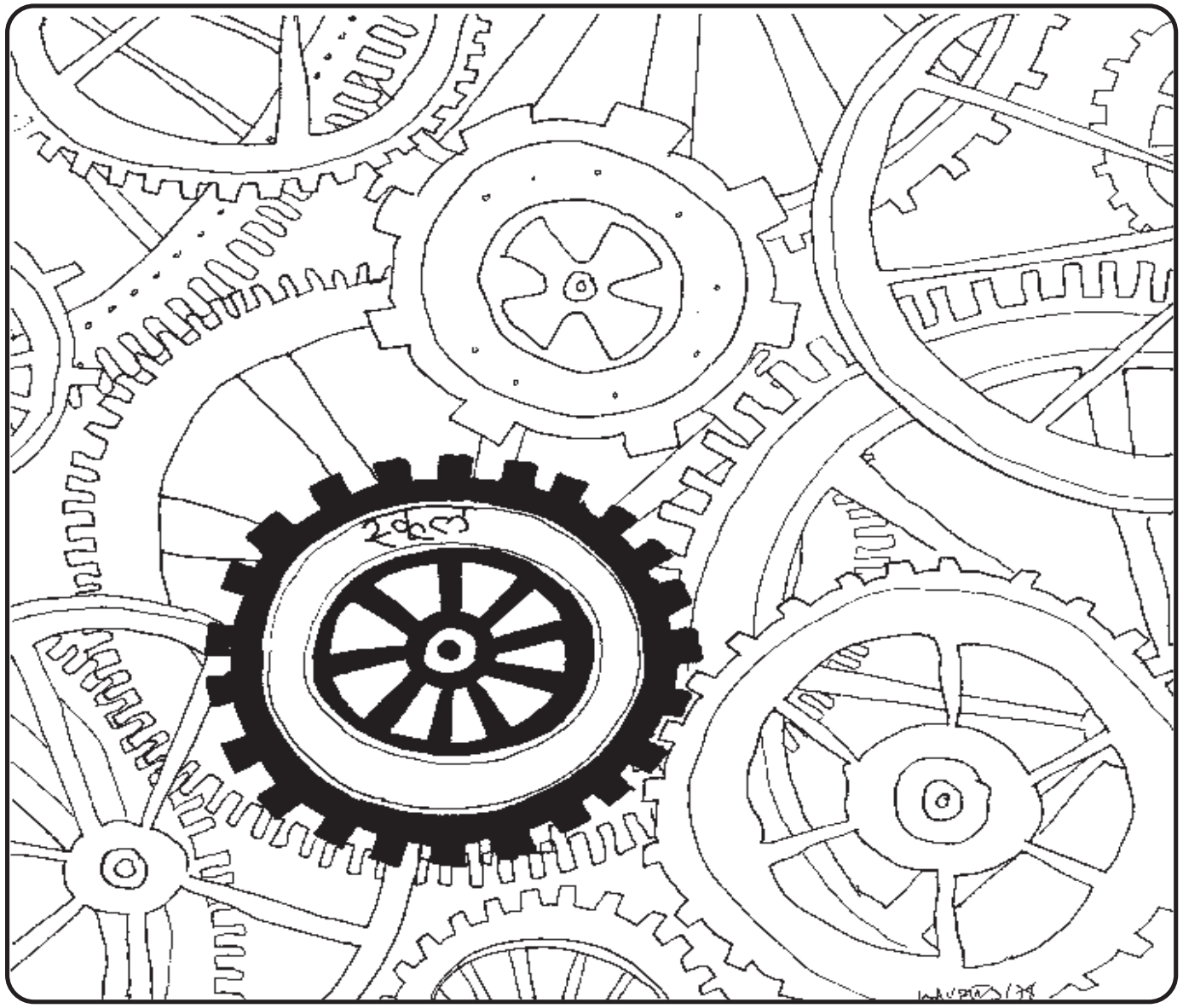

एक पुर्ज़ा है?

हम यह कह सकते हैं कि
हमेशा से हर समाज में शिक्षा का यही उद्देश्य रहा है
कि नई पीढ़ियों को
एक वयस्क जीवन के लिए तैयार किया जाए।

लेकिन यह बात भी समझनी होगी कि
ऐतिहासिक रूप से समाज के
उत्पादन के तरीके ही यह तय करते हैं कि
ज्ञान व जानकारी किस रूप से देनी चाहिए
व कौन से मूल्य और व्यवहार
शिक्षा के माध्यम से आगे बढ़ाने चाहिए!

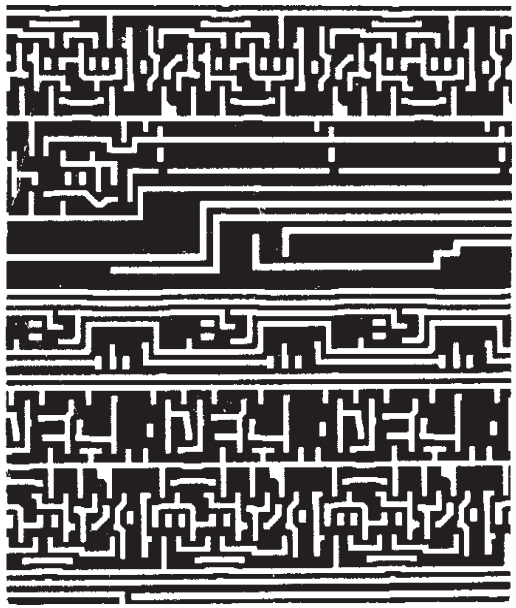

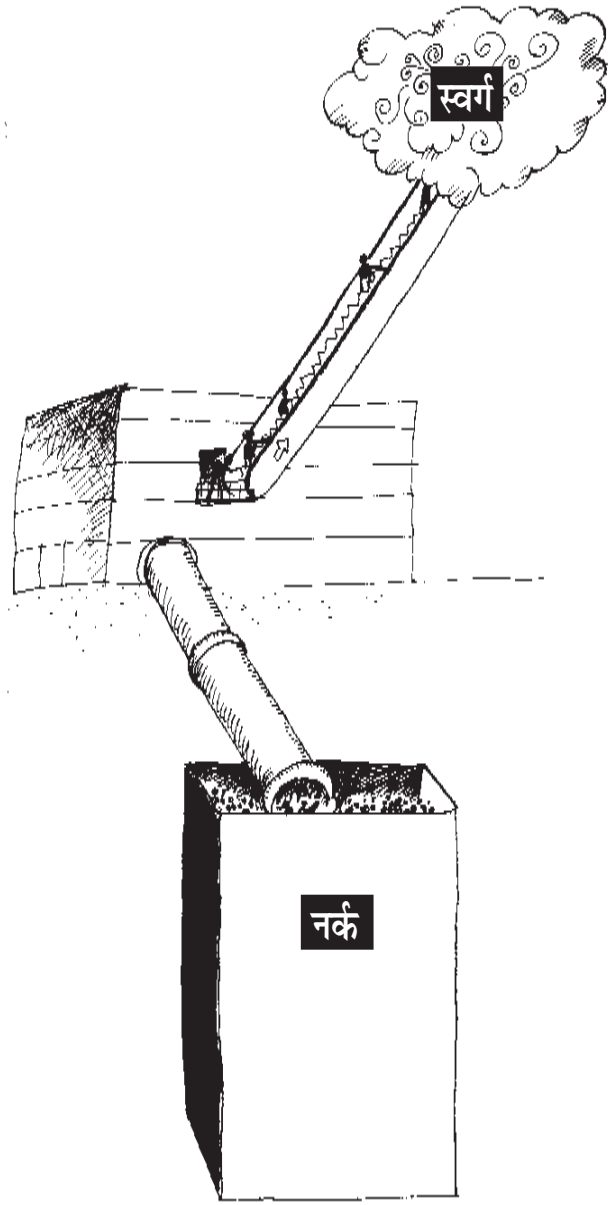

आजकल के औद्योगिक समाज में काम व सामाजिक जीवन कुछ इस तरह तय हो गया है कि एक बुद्धिजीवी वर्ग प्रबंध व वैज्ञानिक/तकनीकी कंट्रोल हाथ में रखे और बाकी काम अन्य लोग करें। इस तरह से **काम के बंटवारे में एक सामाजिक बंटवारा निहित है।**

समाज की चोटी पर गिनती के कुछ लोगों की ज़रूरत है जिनके पास उच्च-शिक्षा व उच्च तकनीक है। बाकी लोग फैक्ट्रियों, दुकानों दफ्तरों या खेतों में जी-तोड़ मेहनत करें, जिसके लिए उच्च शिक्षा की कोई ज़रूरत नहीं है।

इसी तर्क के आधार पर स्कूल भी पास-फेल व चुनने के तरीके से समाज के अंदरूनी अलगाव को सहारा देता है। इसलिए एक तरफ तो हैं विश्वविद्यालय व तकनीकी संस्थान जहां उच्च शिक्षा की मदद से विशेषज्ञ बनाए जाते हैं, जो बाद में इंजीनियर, योजना बनाने वाले, प्राध्यापक व डॉक्टर बन जाते हैं। इनकी सूझ-बूझ ही बाद में अन्य लोगों का भविष्य तय करती है। दूसरी तरफ हैं तमाम ऐसे पेशे जिनमें शिक्षा प्रणाली से छटे हुए असफल व्यक्ति जाते हैं।

एक तरह से देखें तो इस गैर-बराबरी वाले समाज को शिक्षा प्रणाली में फेल हुए व्यक्तियों की उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की - आखिर यह निचले 'दर्ज़े' के काम कौन करेगा?

जिसे हम आजकल 'शिक्षा' कहते हैं,
वह उपभोक्ता माल है,
जिसका उत्पादन 'स्कूल' नाम की संस्था द्वारा होता है।
जितनी अधिक शिक्षा कोई व्यक्ति उपभोग करता है,
उतना ही वह अपने भविष्य को सुरक्षित बनाता है।
साथ-ही-साथ ज्ञान के पूंजीवाद में
उसका दर्ज़ा ज़्यादा ऊंचा उठता है।
इस तरह शिक्षा समाज के पिरामिड में
एक नया वर्ग बनाती है
और जो अधिक शिक्षा का उपभोग करते हैं,
वे यह दलील पेश करते हैं
कि उन्हीं से समाज को ज़्यादा फायदा है।

— इवान इलिच

जब कुछ ही लोगों को डिप्लोमा और डिग्री मिलती है, बाकी को नहीं, जब संपन्नों की संस्कृति ही मेहनतकशों की संस्कृति की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है और जब चयन प्रक्रिया को ज़रूरी व अनिवार्य मान कर उचित साबित किया जाता है, तब यह बात सामान्य हो जाती है कि स्कूली तंत्र से समाज दो हिस्सों में बंट जाए। सोचने वाले, आदेश देने वाले व प्रशासन करने वालों का एक छोटा समूह हो और एक विशाल समूह उनका हो जो आदेशों को पालन करें, बात मानें व आज्ञाकारी हों।

इस समूहीकरण में स्कूल की एक खास भूमिका है क्योंकि बिना थके, स्कूल यही सबक सिखाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही विशेषज्ञ हो सकता है; कि ज्ञान से ही समाज में दबदबा बनता है और जो जितनी अधिक शिक्षा प्राप्त करेगा, उसका उतना ही अधिक दबदबा होगा।

ऐसे में यह बात विचारणीय है कि उन लोगों के लिए स्कूल का क्या महत्व है जो उच्च शिक्षा में अपना कदम नहीं रख पाते? क्या वे मेहनत की दुनिया में प्रवेश करने के पहले स्कूल से कुछ उपयोगी बातें सीखते हैं?

उनको यह पता चलता है कि स्कूल में जो भी पढ़ाया जाता है, उसे साथियों के साथ बांटा नहीं जा सकता। क्योंकि इस पढ़ाई का उनकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी को बेहतर बनाने से कोई वास्ता नहीं है। स्कूली पढ़ाई से थोड़ा-बहुत लाभ यही है कि मज़दूरी के बाज़ार में इसके दम पर अपनी कार्यक्षमता के लिए थोड़ा-अधिक पैसा हासिल किया जाए।

अपनी मज़दूरी को, जो अपने आप में एक उपभोग की वस्तु बन गई है, बेचकर हम अनेक प्रकार के विशेषज्ञों की सेवा खरीद सकते हैं। जिनमें शामिल हैं कई सरल व ज़रूरी सेवाएं, जैसे - स्वास्थ्य पोषण, जानकारी, सपंर्क व संचार, खेलकूद आदि।

स्कूली शिक्षा से
निर्भरता व गैर-बराबरी
का तज़ुर्बा करके हम
अपनी काम करने की
शक्ति खो देते हैं,

और खो देते हैं
साथ मिलकर कुछ नया
बनाने की क्षमता,
साथ रहने का तरीका!

हम खो देते हैं
वास्तविकता को एक
आलोचनात्मक तरीके से
देखने की क्षमता
और पक्ष लेने की ताकत!

और इस तरह
हम खो देते हैं
विकल्प खोजने का नज़रिया!

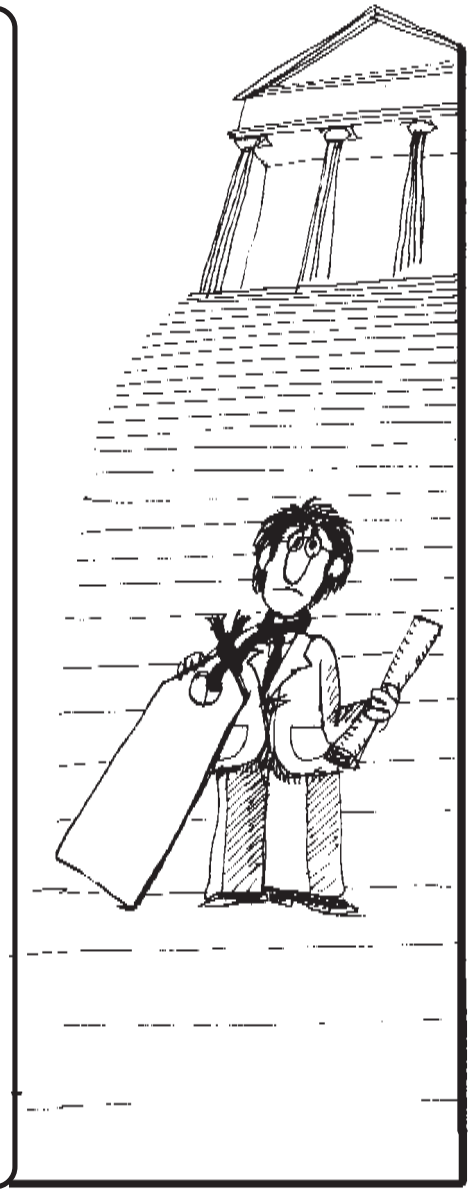

यदि...
सब कुछ ठीक नहीं है ...
सब ओर गड़बड़ है ...
तो सब कुछ बदलना होगा।
पर यह असंभव है।
समस्या मेरे लिए बहुत भारी है!
बचाओ!!

फिर भी बदलाव तो होते हैं...

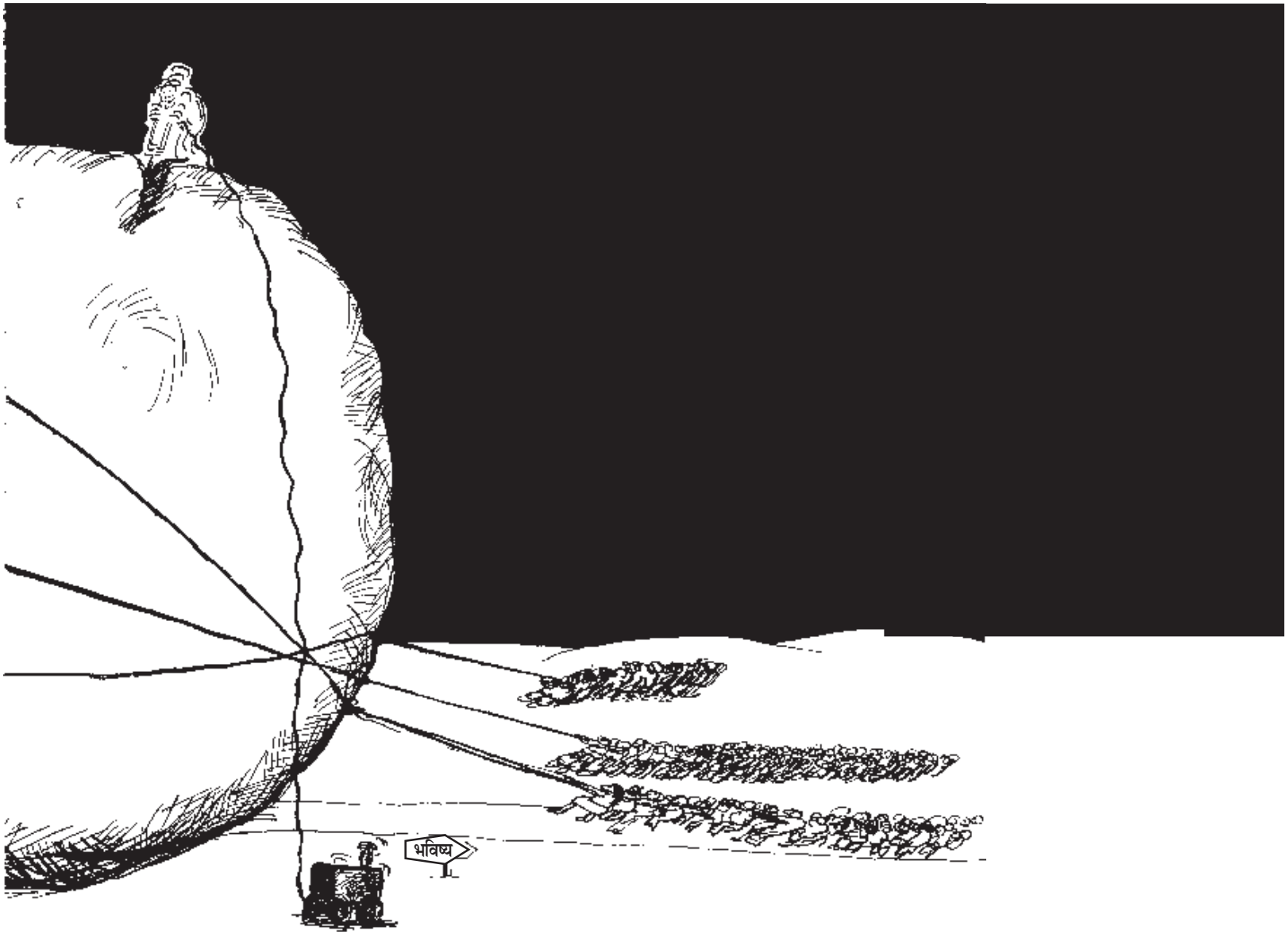
भविष्य

हां, कुछ खलबली
तो मची हुई है...
न बदलने वाली
परिस्थिति नहीं है...
बदलाव तो होता
ही रहता है
पर दिशा क्या है?
स्कूल बदले हैं
कांट-छांट
हुई है..
यह किसी का
मत नहीं है कि
सब कुछ खिड़की से बाहर
फेंक देना चाहिए!
जो ठीक है
उसे बरकरार रखना चाहिए!
जो ठीक नहीं है
उसकी आलोचना
करनी होगी और विकल्प
सुझाने होंगे...
हम यह ठीक से मालूम है
कि क्या नहीं होना चाहिए लेकिन
क्या होना चाहिए यह स्पष्ट
नहीं है।
बदलाव
एक रात में नहीं
होते हैं...
भई, कोई रेडीमेड
विकल्प नहीं है...

एक बात तो बिलकुल साफ है अगर हम बदलाव चाहते हैं तो हमें ही लाना होगा।
भई ज़रूरत है विचार-विमर्श की, प्रयोगों और योजनाओं की।
जो विकल्प हम सुझाएंगे वे हज़ारों की ज़िंदगी पर असर डाल सकते हैं...।
काम तो हमें मिलकर करना होगा!
विश्लेषण की प्रक्रिया में सबको जोड़ना होगा।
अगर हम लोग आपस में ही बात करते रहेंगे तो कुछ भी नहीं कर पाएंगे।
कुछ प्रयास तो हो भी चुके हैं लेकिन आम जनता को मालूम ही नहीं है..।
जो मूल्य सुझाए गए हैं वे तो पहले से ही चले आ रहे हैं।

''स्कूलों को अपनी शिक्षा में आड़े मत आने दो!'' — मार्क ट्वेन

'होमवर्क'

एक बच्ची स्कूल नहीं जाती, बकरी चराती है।
वह लकड़ियां बटोरकर घर लाती है,
फिर मां के साथ भात पकाती है।

एक बच्ची किताब का बोझ लादे स्कूल जाती है,
शाम को थकी-मांदी घर आती है।
वह स्कूल से मिला होमवर्क, मां-बाप से करवाती है।

बोझ किताब का हो या लकड़ी का, दोनों बच्चियां ढोती हैं।
लेकिन लकड़ी से चूल्हा जलेगा, तब पेट भरेगा,
लकड़ी लाने वाली बच्ची, यह जानती है।
वह लकड़ी की उपयोगिता पहचानती है।
किताब की बातें, कब, किस काम आती हैं?
स्कूल जाने वाली बच्ची बिना समझे रट जाती है।

लकड़ी बटोरना, बकरी चराना और मां के साथ भात पकाना,
जो सचमुच गृह-कार्य हैं, होमवर्क नहीं कहे जाते हैं।
लेकिन स्कूल से मिले पाठों के अभ्यास,
भले ही घरेलू काम न हों, होमवर्क कहलाते हैं?

ऐसा कब होगा,
जब किताबें सचमुच के 'होमवर्क' (गृह-कार्य) से जुड़ेंगी,
और लकड़ी बटोरने वाली बच्चियां भी ऐसी किताबें पढ़ेंगी?

— श्याम बहादुर नम्र

स्कूली व्यवस्था पर दुनिया का सबसे व्यंगात्मक कटाक्ष। पुस्तक में ब्राजील के प्रसिद्ध राजनैतिक कार्टूनिस्ट क्लॉडियस ने स्कूलों की हुलिया को कार्टूनों के ज़रिए बेहद सटीक ढंग से दर्शाया है। पुस्तक को मशहूर शिक्षाविद् पॉलो फ्रेरे के जनेवा स्थित केन्द्र — इंसटीट्यूट फॉर कल्चरल एक्शन ***आईडेक*** ने तैयार किया है। यह पुस्तक हरेक मां-बाप के लिए पढ़ना ज़रूरी है - यह जानने के लिए कि स्कूल उनके बच्चों के साथ किस बुरी तरह से पेश आते हैं। इस पुस्तक को पढ़कर शायद मां-बाप, स्कूलों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों पर कुछ लगाम लगा सकें।

भारत ज्ञान विज्ञान समिति

मूल्य: 50 रुपए